एक मनुष्यका यह प्रयत्न है। अतः यह विवेचन परि-पूर्ण है ऐसा मानना अयोग्य होगा। यहां सदोषता जरूर होगी। इसमें उद्धृत किये हुये विचारके साथ जो कोई—थोड़े वाचक सहमत होंगे वेहि इस विवेचनको पूर्ण निर्दोष कर सकते हैं। उनके लिये यह अल्पसा प्रयत्न है। पूर्ण निर्दोष तो कोई चीज हो ही नहीं सकती परंतु यथाचित निर्दोषता वे पाठक इस विवेचनमें ला सकते हैं और इस तरह यदि पाठकलोग इस विवेचन पर संस्कार करके उसे स्वल्प भी निर्दोष करनेका प्रयत्न करेंगे, तो इस अल्प प्रयत्न की कृतार्थता होगी।

कैवल्यधाम
राजकोट
अषाढ शु १, २००७

—दिगंबर

— अनुक्रम —

★

★

Foreword

by

D. V. Rege I. C. S.

(Regional Commissioner and Adviser, Saurashtra)

I have read with considerable interest 'Gitalochan' written by Swami Digambarji of Kaivalyadham, Rajkot. Innumerable books have been written on Gita and many more will continue to be written – the subject is so important and fascinating. There is no doubt that Gita is the best product of human intelligence we have seen so far. The author of the celestial song is Shri Krishna who is regarded as Purna Avtar and who combines in himself the highest synthesis of thought and action. Though it is a part of Maha Bharat– a smriti – it has been given the status of Upnishad – Shruti, from times immemorial. Its message is as fresh and valuable as it was when it was delivered about 5,000 years ago. The Gita sets forth a practical code of conduct and shows how a person should conduct himself in this world and attain salvation. As the Swamiji has pointed out, the teachings of Gita can be summed up in its three words – Aum,

Tat, Sat, mentioned in Chapter XVII. These words mean God, detachment and ordained duties. The essence of the teaching of Gita is that a man should do his duty with detachment and trust in God. According to Hindu philosophy, there are four ways of attaining salvation – Dnana Marga, Yoga Marga, Karma Marga and Bhakti Marga While Gita is not opposed to any of these paths, it shows a preference to Karma Marga. Every human being has to do karma which binds him to the world and is the cause of the unending cycle of births and deaths. The key given by Gita to get rid of this cycle is to do karma with detachment. The ideal of Sthita-Pragna given in Gita may look difficult to attain. But it is not impossible of attainment and any small effort made towards that goal is never wasted and makes further progress easier.

The chief merit of Swamiji's book is the simple and direct manner in which he has explained the teaching of Gita and I am sure the reader will enjoy the book as much as I have done.

Under the able guidance of Swami Digambarji, Kaiwalyadham is doing very useful

work in Rajkot in the field of physical and spiritual culture. So far, it has published about half a dozen well-written books which will give the reader a fairly good idea of our ancient culture. I wish the Ashram every success.

Residency,
Rajkot, 1 June 51

D. V. Rege.

卐 गी ता लो च न 卐

— अथ ध्यानम् —

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी
मंब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ १ ॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ ६ ॥

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ७ ॥

मूकं करोति वाचालं पंगु लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥९॥

—: भूमिका :—

—❦—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदन:
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

सब उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है। वह सार इस असार संसारमें लानेवाले गोपालनंदन श्रीकृष्ण हैं। अर्जुन निमित्त हैं।

इस गीताका अवतार, श्रीकृष्ण और अर्जुन इनके संभाषण द्वारा भारतीय युद्धके बीचमें कि जब सब योद्धाएँ शस्त्रास्त्रसे प्रहार करने तय्यार हुए थे उस समय पर हुआ है। कहा जाता है कि अर्जुनको स्वकीय जन और गुरुजन युध्धसेनामें देखनेसेही अत्यंत दुःख हुआ जिसका पर्यवसान उनके विषण्णतामें होकर युद्ध निवृत्तिमें हो चुका। इस वक्त श्रीकृष्णने उसको ज्ञानामृत पिलाकर उस विषण्णता और कातरताको दूर किया जिसका फल युद्धपूर्णता और यशसंपादनमें हुआ।

महाभारतमें अत्यंत महत्वकी व्यक्तियां श्रीकृष्ण, भीष्म, व्यास, युधिष्ठिर और दुर्योधन ये हैं। उन सबमें श्रीकृष्ण की योग्यता धर्माधर्मकी विवेकतासे, कर्माकर्मकी विवेकतासे,

शौर्य, वीर्य. तेज, विद्या इन सब बातोंसे अधिक है। युधिष्ठिर, दुर्योधन इनमें एकेक गुणकी वृद्धि बताई गयी है। अखिल गुणोंका तारतम्य है नहीं। व्यासजी निःसंग उदासिन हैं। भीष्म शौर्य, पराक्रम, तेज, विद्या इनमें निपुण है। परतु धर्माधर्मका विवेक कम दिखाई देता है। इसका प्रत्यतर द्रौपदी वस्त्रहरणमें आ गया है। अगर भीष्म कर्माकर्ममें दक्ष होते तो द्यूत प्रसंग, वनवास आदि आपत्ति न बन सकती। युद्धके प्रसंगमे उनका शौर्य रजपूतोंके सरिखा मालुम होता है। प्रतिज्ञाका परिपालन यही सर्वस्व माननेवाले वे दिखते हैं। उसके परिपालनमे चाहे सब सृष्टि नष्ट हो, उनको पर्वाही नहीं थी। कट्टरता यह एक गुण है परतु सर्वश्रेष्ठ गुण नही कहा जाता। उसमें तारतम्य जिसको कर्माकर्म विवेक कहते हैं वह चाहिये। यह विवेक श्रीकृष्णमे अत्युत्तम कोटीप्रत गया है। श्रीकृष्णकी भी प्रतिज्ञा थी। पर उस प्रतिज्ञाका भग उन्होने किया था। सिर्फ यही ख्याल कि वैय्यक्तिक प्रतिज्ञा, वैय्यक्तिक भाव, सामुदायिक हितसे कभी अधिक न होगा। इसी लिये श्रीकृष्णकी योग्यता और सबसे अधिकतम है। अत. वे भगवान हैं।

गीता सरिखा प्रबध श्रीकृष्णके मुँहमे रखनेमे व्यासजीने बडी कल्पकता बताई है। अर्जुनके विषादके रूपसे अखिल मानव जातीको गीताका सदेश दिया है। अर्जुन

वीर था। अत्यंत आलादर्जेका महारथी था। उसके विमुख होनेसे सब युद्ध नहींसा ही था! उसके उद्युक्त होनेसे युद्ध सिद्ध होता था। अतः गीताका निमित्त अर्जुनको बनाया गया। यह एकंदर सजावट काव्य और प्रसंगके हिसाबसे बिलकूल उचित सी है।

अब गीताका प्रारंभ "धृतराष्ट्र उवाच," यहांसे होता है। इसमें भी बडा स्वारस्य है। धृतराष्ट्र यह महाभारतमें एक ऐसी व्यक्ति है कि जिसमें भला बुरा विवेक मौजुद है परंतु मोहवशता बहुत होनेके कारण बारबार मोहमें पडता है। विदुरजी जब उसको कुछ सलाह देते हैं तो वैसा उसका चित्त होता है और फिर तब दुर्योधनको देखता है तब सब विवेक चला जाता है और मोहवशता आती है। भला बुरा जानते हुये भी बुरा करनेमें उसकी प्रवृत्ति हठात होती है। "पश्यन्नपि च न पश्यति मूढः" ऐसी उसकी अवस्था होती है।

दुनियामें समाजकी अंदर जो चलता है उसका धृतराष्ट्र यह प्रतिक है। अतः उसके मुँहसे गीताकी शुरूआत है। शुरूके उनके श्लोकपरसे उनकी मोहवशताका पता चलता है। "मामकाः पांडवाश्चैव," यह शब्दरचना हि आपपर भाव कितना है उसे बता देती है।

धृतराष्ट्र संसारका एक प्रतीक है। वह अंधा है। निश्चित-ज्ञान उसके पास नहीं है अतः पुछता है कि मेरे

और पांडुके लडके क्या करते हैं? यहांसे लेकर 'अशोच्या-नन्वशोचस्त्व,' तक, सब प्रकरण उस विषादकी भूमिका है कि जो इस संसारमें प्रत्यह दिखाई देती है। इस विषादमें आदमी समझ नहीं सकता कि मैं क्या करूं और क्या न करूं। ऐसी आतप्त भूमिमें भगवान जलसिंचन करते हैं जिसकी शुरूआत "अशोच्यानन्व शोचस्त्वं" इस आश्वासनपूर्ण वाक्यसे होती है। प्रसंग अत्यंत काव्यमय है अतः उसकी श्रेष्ठता है।

ऐसी हालतमें भगवानने धर्माधर्म विचार, कर्माकर्म विचार बताया है। सत्य और असत्य ये गुण और अवगुण भी जरूर हैं पर उसका तारतम्य छूट गया तो सत्य यह अवगुण होता है। "नरो वा कुञ्जरो वा" यह बात उसका सबूत है। ऐसी सेंकडों बातें हैं कि जिस वख्त मनुष्य हठसे कुछ मान रखता है जिसको भावनावश कहते हैं उस वख्त विवेकका अंकुश जरूर चाहिये। अखिल महाभारतमें यह अंकुश श्रीकृष्ण रूपसे बताया है।

कर्णसे पराभूत हुआ युधिष्ठिर और अर्जुनका संवाद होता है उस वख्त वही मोहपूर्ण भावनावशता युधिष्ठिर और अर्जुनमें दिखाई देती है जिसका पर्यवसान अर्जुन तलवार लेकर युधिष्ठिरको मारने दौडता है। ऐसे समय पर श्रीकृष्ण उनका समाधान करके उसमेंसे रास्ता निकालते हैं। यही कर्माकर्मकी कूंची है। दुर्योधनके कटु भाषणसे

भीष्म संतप्त होकर युद्धमें आगे बढते हैं और अपना और साथ साथ सब कौरव पक्षोंका घात कर लेते हैं। जब तक ये सेनाको मार्गदर्शन करते हुथे पिछे थे तब तक पांडव सेनाकी विजय नहीं थी। भीष्मका आगे आना यही श्रीकृष्ण चाहते थे और वे जब बेभान होकर आगे बढे तब अर्जुनके हाथसे मारे गये और पांडवकी विजय हुई। कर्ण-भीष्म, कर्णाश्वत्थामा, कर्ण-शल्य इत्यादि कलहप्रसिद्ध हैं। उस कलहमें कौरवोंकी शक्ति क्षीण हो गयी जिसका फायदा पाण्डवोंने ठीक उठाया। अर्जुन-युधिष्ठिर, सात्यकी-अर्जुन इत्यादिके कलह पाण्डवोंमें भी हुथे थे पर वहां श्रीकृष्णरूपी विवेकका अकुश अधिक था और कौरवोंमें उसकी त्रुटी थी।

भीष्मका शौर्य राजपूतोंका इतिहास जिसने देखा है उसको अपरिचित नहीं। पर यह शौर्य, सद्‌गुण या मूढ सद्‌गुण है यह सवाल है। ऐसेहि पतंग शौर्यसे राजपूतोंका इतिहास भरा है। और हमारे राजपूत बडे आला दर्जेके शूरवीर होते हुथे भी युद्धाग्निमें भस्म हो गये और पारतंत्र्य में पड गये। वहां भीष्मकी शूरता थी, श्रीकृष्णकी शूरता नहीं थी। आज हमें श्रीकृष्णकी शूरता चाहियें। मराठोंके इतिहासमें उसका थोडासा अंश दिखाई देता है और उस कारणसे हि वे परचक्रके आगे टिक सके।

यह सिर्फ शूरताकी बात हो गई परंतु हमारे बहुतसे गुणोंमें ऐसाहि होता आ रहा है। दान धर्म, अतिथि धर्म,

गृहस्थ धर्म बगैर आज फिरसें पर्यालोचित करने योग्य है। हमारा दान खूब होता है परतु वह सार्थ है कि अनर्थ है इसका ख्याल नही। 'देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विक विदु', इसके लिये विवेक चाहिये।

अेक सन्यासी कोई एक धनिकके पास गया। संन्यासी गावके बाहर रहता था और वहांपर जीवजंतुका भय तो रहता ही है। उसने एक पलंगकी याचना की। धनिकने उसकी इच्छानुसार एक बडा पलग उसकी झोपडीमें भेज दिया। अब एमे पलगपर एक कबल बिछाकर तो सोना ठीक नही। इस लिये उसपर एक गद्दी भी आ गयी। धनिकके घर उस वख्त स्वत के पितरका श्राद्ध था, उस निमित्तसे गद्दी और सब सरजाम संन्यासीको मिल गया। यह एक सत्य घटना है। अब देखना है कि इस घटनामें पुण्य हुआ या पाप। वास्तवीक संन्यासीके जीवनके लिये गद्दी और पलग न होना चाहीये। उसके बारेमें संन्यासीने माग भी न करनी चाहिये थी और माग की तो विवेकी धनिकने उसे पूरी भी न करनी चाहये थी। इसमें संन्यासी धर्मका पतन है और उस पतनको धनिकने मदद की है। अत यह कर्म पापमय ही हो गया। यहा धनिककी फरज थी वह दान करनेके समय जरा विचार करे। मेरा दान कहा जाता है, किसका जाता है इत्यादि विचार यही 'देशे काले च पात्रे च' नामसे गीताने कहा है। आज मदिराम

और अनेक धर्मार्थ संस्थाओंमें अनेक धनिक दान करते हैं परंतु उसकी स्थिति फिर क्या होती है इसकी किसको पड़ी है?। परंतु यह तो परिणाममें पाप तरफ ही जाता है। इसका फल दुराचार अनीति इनके फैलावमें जो न बने तो आश्चर्य।

जो थोड़ेबहुत धनिक विचार करके दान करते हैं उसमें कीर्तिकी मोटी भारी कामना रहती है। आज हम कोई भी संस्था या मंदिरमें जायेंगे तो वहां पर प्रथम हमको धनिकों की बड़ी भारी नामावली ही दिखेगी। धनिकोंको भी यह लगता है कि हमने इस दानसे स्वर्गमें एक खुरशी रिझर्व्ह कर ली। गीताकी दृष्टिमें ऐसा दान राजसिक है। इसमें मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। इस कर्मका राजस संस्कार फिर राजस प्रवृत्ति ही करायेगा। इस लिये 'दातव्यमिति यद्दानं' ऐसा दान कृष्णार्पण करके ही होना चाहिये। 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' 'इदं न मम' ऐसे अर्थपूर्ण वाक्योंकी योजना प्राचीन ग्रंथोंमें इसी लिये मिलती है जो अति यथार्थ है।

यहां तो हमको अध्यात्मकी दृष्टिसे, गीताकी दृष्टिसे देखना है। सामाजिक हितकी दृष्टिसे, समाजमें कुछ अच्छा उपयुक्त काम हो जाता है इस दृष्टिसे यह राजस काम भी थोडाबहुत उपयोगी होता है यह बात अलग है।

गीताकी दृष्टि तो अंतिम श्रेय उपर है। अति स्वच्छ कपडे पर जैसा जरा भी मल चल नहीं सकता वैसे आध्यात्मिक मार्गमें जरा भी राजस वृत्ति चल नहीं सकती। वहां तो केवल शुद्ध सात्विक वृत्तिका ही परिपोष चाहिये ऐसा गीताका जोरपूर्वक कहना है। फिर तामस और राजस कर्मकी बात भी वहां कहां हो सकती?।

द्रव्यदान, भूमिदान इत्यादि दानोंमें, धर्मशास्त्रने विशेष ख्याल रखनेके लिये कहा है। पात्रापात्र विचार वहां अवश्य करना चाहिये। अन्नदानके बारेमें इतना सूक्ष्म विचार करनेकी जरूरी नहीं। मध्यान्ह समय पर कोई अतिथि आ जाय तो उसको खानेके लिये अन्न देना चाहिये। वहां विशेष पात्रापात्रकी जरूरी नहीं। परंतु वही अन्नदान, सत्र तरीकेसे जब कायम चलेगा तो अवश्य विचार करना होगा। नहीं तो वहांसे अन्न खाकर, उसके सहारेसे कुकर्म करनेका मौका, अपात्र लोगोंको मिलेगा।

मंदिरोंका अनाचार, संस्थाओंका व्यवहार, ये सब हमें फिरसे एकवार देखना चाहिये। नहीं तो 'अधेनैव नीयमाना यथांधा:' सरीखे हमको विनाश तरफ ही जाना होगा।

मंदिरमें दिया हुआ पैसा, महंत-आचार्योंके चरणोंमें धरी हुई पादपूजा इत्यादि बातोंमें कोई दिन हमने विचार किया है?। कोई दिन उसका हिसाब पूछा है? परंतु आज

वह समय आ गया है। गीता उस रस्तेपर मनुष्यको ले जाना चाहती है जिससे अपने अनेक व्यवहारोंपर जरा अंकुश रहे और बदमाशीका प्रमाण कुछ कम हो।

दान करनेवाले पर उस दानका विनियोग कैसा होता है इसकी जवाबदारी है। अतिथी धर्ममें विवेक चाहिये। धर्माचरणमें विवेक चाहिये। सब कर्मोंमें विवेक चाहिये।

गीताका कटाक्ष इस विवेकपर है। गीता संन्यास बताती नहीं। गीता कर्म भी नहीं बताती। गीता सिर्फ भक्ति या वैराग्य ही नहीं बताती। गीता इन सबमें विवेक बताती है। कर्माकर्मका मोहनाश बताती है। एक प्रकार का ज्ञानयोग बताती है। हरेक चीजका तारतम्य बताती है। चाहे वह तारतम्य धर्ममें हो या चाहे व्यवहारमें हो।

× × ×

भारतीय युद्धका मूल राजसुय यज्ञमें है। और राज॰ सूय यज्ञके अंदर प्रकट हुआ पांडवीय वैभव ही सीमाका परमोच्च बिंदु था। साथ साथ उस वैभव विलाससे दुर्योधनादिकोंके अंदर एक महान द्वेषाग्नि प्रज्वलित हुआ। वास्तविक वह द्वेषाग्नि पहिलेसे हि था पर इस राजसुय यज्ञ के निमित्तसे वह अधिकतर प्रज्वलित हुआ।

हिमालयमें पैदा हुओ पांडु राजाकी संतती-पांडव-के साथ कौरव अेक हीनताकी द्रष्टिसे देखते थे। कौरव उन पांडवोंको पांडुकी औरस संतती नहीं मानते थे, अतः उनके

साथ खाना, पीना, खेलना, कुदना इत्यादि व्यवहार करना कौरवोंको अतिशय हीन मालुम पडता था। श्रेष्ठ कुलोत्पन्नता और हीन संतानता यही सवाल था। इसका अधिक आविष्कार जब कौरव प्रौढ हो गये तब विशेष हुआ। पांडवोंको चन्द्रवंशीय गद्दी मिलना, वे राजपुरुष बनके कौरवों के साथ संबंध रखे यह बात कौरवोंको अति संतप्त करनेवाली थी। चन्द्रवंशीय गद्दीके केवल अधिकारी कौरव ही थे और उस पवित्र गद्दीका स्पर्श पांडव सरीखे हीन संतान को न होना चाहिये यह कौरवीय कल्पना। उस अनुसार प्रथमतःसे कौरव, पांडवोंको गादी देना या उनको कुछ राज वैभवसे भूपित करना इस बातका विरोध करते थे। पांडुके मरने बाद जब कुंती पांडव-बालकोंको लेकर हस्तिनापुर आयी तब भीष्मजी उन बालकोंको, दुर्योधनके समानहि रखते थे। और उनको पांडुके औरस पुत्र समजकर राजपुरुषीय शिक्षण और व्यवहारज्ञान देते थें। उसी वजहसे कौरवोंको यह बात पसंद नहीं थी। कौरवोंके अंदरका यह उच्च गंडता धीमे धीमे बढते बढते द्वेषाग्निमे परिणत हुआ। कौरवोंकी अपेक्षा पांडव युद्ध विद्यामें तथा राजव्यवहार शिक्षणमें अधिक बढ गये यह भी एक द्वेषाग्निवर्धक कारण हो था। हीन जाती उच्च जातीसे जब अधिक बढ जाती है तब बराबर यही मामला बनता है।

यह कुलीनताका अभिमान मूलका द्वेषाग्नि बचपनमे

जब की कौरवोंके पास सत्ता नही थी-बाल्यावस्था थी-उस वरत सुप्त था। परंतु जैसे जैसे कौरव-पांडव प्रौढ होते गये और पांडवोंकी महिमा परिवृद्ध होते गयी तब इस द्वेषाग्निने वैरभावमें पदार्पण किया और राजसूय यज्ञमें वह अत्यंत दृढमूल हो गया।

पांडवोंके साथ युद्ध करके उनको उस वैभव शिखरसे नीचे खेचना कौरवोंके शक्ति बाहरका काम था। कुछ कुटिल नीतिका अवलंब करना यही एक मार्ग उनका था। जब तक श्रीकृष्ण हस्तिनापुर या इंद्रप्रस्थकी ओर उपस्थित थे तब तक कुटिल नीतिका प्रभाव पडना असंभव था यह बात कौरव खूब जानते थे और शकुनी जो इस कुटिल नीतिका उत्पादक था, उसको यह बात पूरी मालुम थी। अतः श्रीकृष्णकी गैरहाजरीकी वे लोक प्रतीक्षा कर रहे थे।

इधर कौरवोंने इस संधीको जल्दी पास लानेके लिये शाल्व राजाको द्वारकापर स्वारी करनेको उद्युक्त किया जिससे श्रीकृष्ण शीघ्र हस्तिनापुरसे लौटकर द्वारका चले जाय। शाल्व राजा योद्धा था और वह श्रीकृष्णको महिना पंदरा दिन रोक सकेगा और यद्यपि श्रीकृष्ण चाहे तो भी वे हस्तिनापुर जल्दी लौट नही सकेंगे इस व्यूहसे कौरवोंने शाल्वको उद्युक्त किया।

अपेक्षित संधी मिल गयी। और श्रीकृष्णकी अनुपस्थितीमें शकुनीने कपट-द्यूतका प्रकार कर लिया जिसमें

पांडवोंको बारह वर्ष वनवास जाना पडा। एक वर्षका अज्ञातवास इस कारणसे शर्त रखी गयी के यद्यपि पांडवोंने बारह साल पूरे कर लिये तो भी अज्ञात वर्षमें अगर वे पहिचाने गये तो फिर बारह वर्ष वनवास जाना होगा। तब तक पांडवोंकी आयु पूरी हो चुकेगी और दुर्योधनको निष्कंटक राज्योपभोग तथा पांडवोंके उपर द्वेषजन्य समाधान भी पुरापूरा मिल जायेगा।

युधिष्ठिरने, विराट नगरीमें इस बातका पुरा विचार किया था और उन्होंने भीमार्जुनादिकोंको मुदतपूर्ति अनंतर भी चार आठ दिवस व्यतीत करनेकी सलाह दी थी। क्यों कि गणितके संबंधमें कुछ झगडा न हो। परंतु बृहन्नडाके उतावलपनसे यह मामला अपक्व स्फुट हो गया और युधिष्ठिरने सोचे हुये समयके पहले हि पांडवोंका प्रगट होना पडा। पांच महिना और बारा दिवसका झगडा था। चांद्रमासमें मुदत पूरी होकर कुछ अधिक दिन व्यतीत हो गये थे परंतु सौर मासमें कुछ दिन उर्वरित थे। बस यही प्रश्न कौरवोंने छेडा और उस प्रश्नपर वे डटे रहे जिसका परिणाम भारतीय युद्धमें हुआ।

वास्तविक चंद्रवंशीय राजपुरुषोंमें चांद्रमास ही प्रचलित था और उस हिसाबसे पांडवोंकी शर्त पूरी हो चुकी थी। परंतु कौरवोंको कुछ न कुछ बाहणा निकालना था और यह निमित्त उन्होंने खडा किया।

× × ×

वैभवका परमोच्च बिंदु यही पराभवका आरंभ बिंदु होता है। राजसूय यज्ञ यह पांडवोंका परमोच्च वैभव था। उस समय अनेक राजाओंसे खड़णी तथा सार्वभौम मान्यता पांडवोंने संपादन की थी। खांडव वन दाह, त्रिगर्त विनाश, संशप्तकोंका निर्मूलन यह सब प्रकार पांडवोंकी विभवता बताते हैं। और वे ही विभवताके प्रकार अन्य दृष्टिसे शत्रु-त्वोत्पादक बन गये।

भारतीय युद्धमें नागराजा, सुशर्मा और संशप्तक इन लोकोंने अर्जुनपर वैरका बदला लेनेकी परिसीमा की। युद्धमें पांडवपक्षमें सप्त अक्षौहिणी सेना खडी हुई पर कौरवपक्षमें एकादश अक्षौहिणी सेना इकट्ठी हुई। इनमें बहुतसे राजा ऐसे थे कि जिनको पांडवोंपर वैरका बदला हि लेना था अतः वे दुर्योधनपक्षसे उस युद्धमें शामील हुवे। समान शत्रुता यह मित्रताको पैदा करती है। दुर्योधनके साथ उन राजाओंको विशेष गाढ प्रेम था यह बात बिलकुल नहीं थी। केवल पांडव-वैर यही वहां सवाल था।

पांडवोंने राजसूययज्ञ अत्यल्प कालमें ही किया। यह उनके पराक्रमका सूचक है। राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ इनमें मानस विज्ञानसे बहुत फरक है। एकमें साक्षात् राज निर्दलन है, साक्षात् दास्यत्व प्रस्थापन है, साक्षात् चक्र-वर्तित्व हठात प्रस्थापित करना होता है। दुसरेमें सार्वभौमत्वके साथ धार्मिकत्व विशेष है। अतः अश्वमेध यज्ञमें बहुतसे

राजा लोक विघ्न नहीं उठाते थे। परंतु राजसूय यज्ञ उनके उपर दास्यत्व आरोपित करनेवाला होनेके कारण अंत करणमें वैरभावका अंकुर रख छोडता था।

नमस्कारकी व्याख्या दो प्रकारसे हो सकती है। दूसरेकी हीनता बताकर उपस्थित मनुष्यकी स्तुति की जाती है किंवा उपस्थित मनुष्य केवल गुणगौरव करके हो स्तुती हो सकती है। परापकर्षानुकूल व्यापार वा परोत्कर्षानुकूल व्यापार इन शब्दोंसें नमस्कार क्रिया हो सकती है। परंतु उनमें प्रथम व्याख्या भावनाको दुखाती है और दूसरी व्याख्या भावनाको उतना धक्का नहीं देती। इसी भेदने राजसूय यज्ञमें भारती युद्धके बीज रोपे यह कहना अप्रस्तुत नहीं है।

भारतीय युद्ध अपूर्व था। उसके वीर राजा भी अपूर्व योद्धे थे। विद्वान थे, वीर थे, शास्त्रवेत्ते थे। अत इस रूप्रामका वर्णन करना कौन रसिक और अभिमानी कवि छोडेगा? व्यासजीने उस युद्ध वर्णनपर एक काव्य बनाया- एक इतिहास बनाया जिसका नाम उन्होंने 'जय' रक्खा क्योंकि उसमें पांडवोंकी जय हुई। कौरव-पांडवोंका कलह और उनका युद्ध और उसमें पांडवोंकी जय इतनेहि विषय उस 'जय' काव्यके थे।

अनेक गुणोंसे 'जय' काव्यकी प्रशंसा बढती रही और वह काव्य अति प्रचलित हुआ और लोगोंमें प्रधानपद उसको मिला।

एकहि ग्रंथ पढनेसे सब कुछ परिज्ञान मनुष्यको हो ऐसी अपेक्षा जब मुद्रण कला नहीं थी उस समयके जन-समाजमें होना असंभव नहीं। इस हिसाबसे इस 'जय' नामक ग्रंथमें अनेक विषय, बादमें आ गये। धर्मकारण, राजकारण, समाजकारण, विविध नीति, अनेक आख्यान इत्यादि विषय उस ग्रंथमें धीरे धीरे आते रहे और जय ग्रंथ भारत-ग्रंथ बन गया। उससे भी और परिवृद्ध होनेके बाद यानी सूतशौनक कालमें उसको 'महाभारत' संज्ञा प्राप्त हुई जिसमें फिर संसारका एक भी विषय अपरिचित रहा नहीं। अतः 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' यह कहावत रूढ हो गई।

> गीता सहस्रनामैव स्तवराजोह्यनुस्मृतिः।
> गजेंद्रमोक्षणं चैव पंचरत्नानि भारते॥

कौरव-पांडव कथाओंमें भी उपरोक्त पंचप्रकरणकी महती अधिक है। उनको भारतके पांच रत्न कहा है।

सामान्यतः ग्रंथका ऐसा तत्र होता है कि जिन प्रकरणों के होनेसें ग्रंथार्थमें अर्थपूर्णता होती है उन प्रकरणोंको उस ग्रंथके अंग माने जाते है। जिन प्रकरणोंको निकाल देनेमें ग्रंथार्थमें कुछ भी हानी होती नहीं उन प्रकरणोंको उस ग्रंथ के तदंगभूत नहीं मानते। वे क्षेपक कहे जाते हैं।

पाडवोंका बाल्यपण तथा युद्ध इत्यादि प्रकरण निकाल लेनेसे ग्रथार्थ विनष्ट होता है। अत वे भारत ग्रथके तत्रगभूत विभाग कहे जाते हैं। विदुरनीति, शुक्रनीति, सनत्सुजात, 'कणिकनीति इत्यादि प्रकरण न होनेसे कुछ ग्रथार्थमें विकलता नही आती। वे प्रकरण होनेसे अर्थ गौरव अर्थप्राचुर्य भले हो परतु वे प्रकरण भारतके स्थिर भाग नही हैं।

विदुरनीतिमें सदाचार कहा है। शुक्रनीतिमे राजव्यवहार है। सनत्सुजातीयमे सन्यास मार्गकथन है। कणिकनीतिमें राजकारणीय कुटिल नीति है। इन अलग अलग नीतिशास्त्रोंकी व्यवस्था अलग अलग पात्रोंके द्वारा महाभारत ग्रथमे की गयी है। सनत्सुजातीय सनत्कुमार जैसे बडे भारी विरक्त पुरुष व उनके मुखमें रचना यही औचित्य है। शुक्राचार्य समान दक्ष गुरु और राजकारणी पुरुषके मुखमे हि शुक्रनीति रसपूर्ण प्रतीत होगी। अत उपरोक्त विवेकसे जयपुराणमे इन सब बातोंका फिर आगे प्रवेश होता गया और सब मिलके एक बडा 'महाभारत' निर्माण हुआ।

गीता एसाहि एक प्रकरण है। कर्माकर्म विवेक एतदात्मक अध्यात्म विचार यह गीताका विषय है। एसा गहन विषय प्रवचनकार पुरुष महाभारतीय पात्रोंमे सिवाय श्री कृष्णके अन्य एक भी नही। अत उनके मुखमहि गीताका विचार रखा गया और उसमही बडा स्वारस्य है। व्यास

जीकी प्रतिभा, व्यासजीकी अलौकिक बुद्धिमत्ता सब इस प्रबंधमें मूर्तिमती हो गई हैं। इसमें काव्य है, इसमें विवेक है, इसमें पदलालित्य है, इसमें रस है, इसमें सब कुछ है और साथ साथ अध्यात्म दर्शन है।

यह, अपने घराकी न होते हुये भी, मातापद प्राप्त होने बाद उस घराकी सुफल, समृद्ध वेली बन जाती है। गीता व्यास भारत आख्यानमें द्रौपदी स्वयंवरादि समान तद्गभूत प्रकरण न होते हुये भी उन सब प्रकरणोंसे अधिकतम समृद्ध और आकर्षणीय वस्तु महाभारतमें बन गयी है। विदुरनीति, कणिकनीति, इनके समान गीताको भारतग्रंथमेंसे बाहेर निकालकर अगर भारत ग्रंथ पढा जाय तो उसमें कोई जातकी अर्थभग्नता नहीं आवेगी। यही एक सबूत है कि गीता, और अनेक विचारप्रकरण समान क्षेपक हैं परंतु वह क्षेपक इतना विचारप्रधान है कि भारतके निजप्रकरणकी अपेक्षा गीताका तेज अधिकतम बढ गया है।

अब प्रश्न यह है कि गीताका प्रस्ताव जिस युद्ध भूमिपर हुआ और जिस समयपर हुआ वह घटना क्या है? कहा जाता है कि युद्धार्थ सिद्ध हुआ अर्जुन दोनों सैन्यके बीचमें जाकर उभय सैन्यके वीरोंको देखना चाहता है। तबतक उसके चित्तमें कोई जातकी करुणता नहीं परंतु एकदम उसके अंतःकरणमें उभय सैन्यके बीचमें जातेहि करुणा उत्पन्न हुई

और वह विषण्ण हो गया, धनुर्बाण फेंककर रथमें विमूढ होकर बैठ गया। भगवानने यह मूढता निकालनेके लिये गीतापाठ सुनाया और उससे अर्जुनका विभ्रम और व्यामोह नष्ट हुआ और वह युद्धार्थ फिर सिद्ध हुआ।

इस घटनापर अब बौद्धिकवादसे विचार करना है। यह घटना कितने अंशोंमें वास्तविक है? अर्जुन अग्रिम क्षणमें जो युद्धार्थ सिद्ध था वह झटसे मोहयुक्त होता है और फिर गीता सुननेके बाद युद्धार्थ सिद्ध होता है। युद्ध पहलेका अर्जुन, युध्यमान अर्जुन, और युद्धोत्तर अर्जुन इन तीन प्रकारसे अर्जुनके जीवनपर विचार कीजिये और फिर उस अंशसे इस गीतात्मक घटनाके ओर देखीये।

१ किराताजुर्नीय युद्ध, उत्तर गो ग्रहण युद्ध, चित्ररथ युद्ध, उद्योग पर्वका अर्जुन देखीये, युद्ध शुरू होने पहिले संजय जब पांडवोंके पास आता है तबका अर्जुनका स्वभाव और जवाब देखीये।

२ भूरिश्रवा वध, द्रोण वध, युधिष्ठिर अपमान इत्यादि युध्यकालीन प्रसंगपर अर्जुनका वर्ताव देखिये।

३ युध्धोत्तर, अर्जुनका जीवन देखिये। युद्ध पूर्व, युद्ध समयपर, और युध्ध बाद अर्जुनका विशेष अध्यात्मी ऐसा जीवन नहीं दिखाई देता। यह संमत हो तो फिर गीतापर दुसरी विचारदृष्टि लगानेकी जरूर पडेगी। जिनको यह संमत नहीं उनके लिये यह चर्चा है नहीं।

प्रथमाध्यायमें ध्वनित की गयी अर्जुनकी भीति, इसकी यथार्थता और इसपर भगवानसे उत्तर मिलता है क्या? उस प्रश्नका सरल उत्तर भगवानने क्यों नहीं दिया कि वर्णसंकर नहीं होगा, कुलनाश नहीं होगा, स्त्रियां दुष्ट न होंगी इत्यादि। और जो उत्तर दिया, वह तात्विक ऐसा दिया गया इसका कारण क्या? अच्छा! सरल उत्तर नहीं मिला तो अर्जुनने पुनश्च अपना प्रश्न क्यों नहीं किया? जो कि इसको ज्ञातिवधसे होनेवाली अनिष्ट परंपरा इतनी यथार्थसे दिखती थी! वैसा देखें तो अर्जुनकी भीति सत्यहि थी!

ज्ञातिवधजन्य उत्पन्न होनेवाली अनिष्ट परंपरा, वास्तविक अयथार्थ नहीं थी! भारत युद्धोत्तर आर्यों कि स्थिती इस अर्जुनके भीतिका साक्षात् उदाहरण है। तबसे भारतकी जो अवनती शुरु हुइ वह अभीतक रुकती नहीं!

इन सब प्रश्नोंका विचार अब बुध्दिवादपर स्थित होकर करना है। इस समय कुछ देरतक भावना द्वारा दूर करनी होगी।

वास्तविक कुलक्षयजन्य भेसूर चित्रकी कल्पना अर्जुनसे युधिष्ठिरको अधिक आना चाहिये थी। युधिष्ठिरका आयुष्य उस विषादके लिये अनुकूल था। परंतु अर्जुनहि उस विषादका स्थान बनता, और भगवानने ही उस विषादके निवृत्तिके लिये

गीता कहना इसमें कुछ स्वारस्य, प्रयोजकता तथा कल्पकता जरूर होगी।

गीता आज जो हमारे सामने उपस्थित है - सातसौं इलोकका एक प्रबंध - वैसी गीता क्या रणक्षेत्रमें भगवानके मुँहसे अवतीर्ण हुई? उतना अवसर उस वख्त था? अगर था तो श्रीकृष्णार्जुन संवाद क्या पद्यमें हुआ था? 'व्यासेन ग्रथितां,' इससे तो यह प्रतीत होता है कि व्यासजीने उस संवादको महाभारतमें प्रथित किया। एकंदर इलोकोंमेंसे एक धृतराष्ट्रका, कुछ उन्चालिस इलोक संजयके, त्रिआनवे इलोक अर्जुनके और लगभग पाचसौ छसठ इलोक श्रीकृष्ण के होते हैं। अब इतना इलोक पाठ कहनेको एक घंटा तो गुँह लगेगा। 'प्रवृत्ते शस्त्र संपाते,' ऐसे समयपर जब गीता एक घंटा तक कही गई तब उस समय अन्य वीर सेना क्या चुपचाप ही बैठी थी? और जब श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद समाप्त हुआ तब वह सेना और सब वीर आगे लड़ने बढे ऐसा मानना ठीक है? अर्जुनके चक्रपाल तो पास ही थे। उन्होने गीताको सुनी कि नहीं? संजय को तो दिव्य दृष्टि थी दिव्य श्रुति नहीं थी।

इन सब प्रश्नोके उत्तर गीताके ओर दुसरे ही दृष्टिसे देखनेसे मिल सकते हैं। उसके लिये प्रथम अर्जुन विषादके संबंधमें थोडासा विचार करेंगे।

अर्जुनका युद्धपूर्व तथा युद्ध समयका जीवन उस विषाद

के विरुद्ध लगता है। उत्तर गोग्रहण समयमें भीष्म द्रोणसे वह लढा है। युद्धकालमें जब संजय उसके पास आता है तब भी वह वैसाहि क्रोधपूर्ण भावासे युद्धके लिये उद्युक्त होकर, दुर्योधन प्रति संदेशा भेजता है। इन सब बातोंका वर्णन प्रथम प्रवचनमें हो चुका है। युद्धोत्तर तथा गीता श्रवणोत्तर अर्जुनकी स्थिती कुछ विशेष ज्ञानपूर्ण हो गयी असा भी मालुम नहीं पडता। उदाहरणार्थ युधिष्ठिराधिक्षेप, सात्यकी निर्भर्त्सना, वगैरे प्रसंग उस बातको बताते हैं। इससे पता चलता है 'विश्वरूप दर्शन,' किया हुआ अर्जुन, 'नष्टो मोहः', कहनेवाला अर्जुन, जिस गीताको सुनकर आज तक हजारों मानव अपना जीवन कृतार्थ कर चुके हैं ऐसी गीता प्रत्यक्ष श्रीकृष्णसे सुननेवाला अर्जुन, युद्धकालमें या युद्धोत्तर कालमें बिलकूल मूढसाहि मालुम पडता है यह आश्चर्य है।

अतः मानना पडता है कि गीता यह एक व्यासजीकी प्रतिभाशाली कृति है और वह काव्य, वह प्रतिभापूर्ण कृति व्यासजीनें श्रीकृष्णार्जुन संवादरूपसे महाभारतमें 'ग्रथित' करनेमें एक अपूर्व चातुर्य और प्रतिभा निदर्शित की है।

अब प्रश्न रहा अर्जुनकी भीति, जो कुलक्षयजन्य अनर्थ परंपरा बताती है। भारती युद्धके अंदर इतना क्षत्र संहार हुआ कि उसकी नुकसानी अभीतक दिखती है। अनेक

वीरोंका नाश होनेसे भिन्न भिन्न विद्याओंका लोप हुआ है। क्षात्राचार खंडित हुआ और आज हमारी ऐसी स्थिति है कि भारतीय रथ रचना तथा व्यूह रचना तथा शस्त्रास्त्र इत्यादि के बारेमें हम बिलकूल अज्ञ है। राम-रावण युद्ध कैसा चलता था--भारतीय युद्ध किस ढंगसे चलता था, आज हमें बिलकूल कल्पना नहीं। युद्धवर्णन पढ लेते हैं इतनाही। क्षात्रधर्मको हानि इससे अधिक क्या हो सकती?

इस भीतिका उत्तर गीतामें मिलता नहीं। परंतु यह भीतिका मूलको छेडकर मात्र उत्तर दिया गया है। 'नाऽ कर्ता हरिः कर्ता,' 'मया हतास्त्वंजहिमाव्यथिष्ठाः,' इत्यादि वाक्योंसे जो एक आध्यात्मिक विचारसरणी बताई है वही उसका उत्तर है। दुनियामें जो कुछ घटना बनती है वह परमेश्वर संकल्पसे बनती है और मनुष्य उस घटनामें निमित्त मात्र है। अतः जब मनुष्य कहता है मैं यह चीज करता हूं और वह चीज नहीं करूंगा यह अज्ञानमूलक वस्तु है। 'कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन,' इसमें बताये हुवे प्रकारसें जब सब क्षत्रिय समाज मुमुर्षु हुआ था वह किसी से भी परावृत्त होनेवाला नही था। प्रत्यक्ष भगवानकी शिष्टाई जहां व्यर्थ बनी वहां औरोंकी क्या प्राज्ञा थी? अतः भारतीय युद्ध प्रसंग ईश संकल्पित ही था। अर्जुनको निमित्त मात्र बनना था।

अगर हठात् यदि अर्जुन लडाई न करता तो भी परवश

होकर उसको युद्ध करना पडता। उसका सभाव क्षात्र था और मानके खातर या शत्रुने कुछ हुर्यो! करने बाद क्रुद्ध होकर उसे लढना पडता। उससे बहेत्तर है कि स्वयं सिद्ध होकर लढे। 'यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे,' 'मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति;' अर्जुन गोत्र-वधकी भीतिसे युद्धसे हट जाता तो दुर्योधनादि उसकी हुर्यो करते और फिर उस हुर्योसे व्याकुल होकर—विवश होकर उसे लढना पडता। इस प्रसंगकी अपेक्षा स्वयंसिद्ध होकर और यह प्रसंग ईश संकल्पितहि है ऐसा मानकर लढना अधिक प्रशस्त था। और यही उपदेश भगवानने अर्जुनको किया जिससे उसका अज्ञानमूलक भ्रम नष्ट हुआ और वह विचारयत होकर लढने तैयार हुआ। अर्जुनका प्रथम अध्यायके प्रश्नका उत्तर भगवानने ऐसा अन्य प्रकारसे दिया उसका अब खुलासा हो गया।

गीता यह ऐतिहासिक वस्तु या व्यावहारिक सत्य वस्तु है ऐसा देखना यह एक बात है और श्रीव्यासजीकी अत्यत प्रतिभाशाली और संसारको हरेक अंशमें मार्गदर्शक ऐसी कृति गीता है यह देखना दूसरी बात। अब इन दोनोंही प्रकारसें गीताकी ओर हम देख सकते हैं। इसमें प्रथम दृष्टि स्थूल है और दूसरी सूक्ष्म है अतः निश्चित और विचार-प्रधान वस्तु है। हरेक वस्तुमें वास्तव विचार और भावना-मय विचार रहते हैं। केवल वास्तव विचारपर ही अधि-

छित होकर यदि मनुष्य रहेगा तो उसे ,परमात्माका समय जरूर आवेगा। चन्द्र अभीतक देवता विषय माना जाता था। वहां एक स्वर्गीय सृष्टी है और मरने बाद मनुष्य वहां फलभोग लेने जाता है ऐसी कल्पना। अब शास्त्रीय अन्वेषणसें चन्द्र यह एक पत्थरखड है ऐसा सिद्ध हो चुका है। देवतावादी लोकोंपर यह एक प्रत्याघात ही है। कमनीयता, रमणीयता, आल्हादप्रदानता, बुद्धि विचार, प्रवर्तन ऐसे गुणों से चन्द्रमें जो ईश्वरी अंश मानता है उसे शास्त्रीय सत्यसें कुछ हानी न होगी। वास्तवमें चन्द्र यह पत्थरका गोल भले रहे परंतु जबतक वह मनुष्यको दैवी विचार प्रदान करनेमें कारण होता है तबतक वह देवताहि रहेगा। माता यह पांच भौतिक पिंड और माता यह उससे अतिरिक्त कुछ वात्सल्यादि प्रेमकी मूर्ति जो एक भगवानकाहि अंश है ऐसा मानना यह दो बातें भिन्न हैं। माताकी व्याख्या वास्तववादसें एक उत्तम परिचारक और एक उत्तम रसोया और एक उत्तम मित्र ऐसी विभिन्न कामगिरीके ओरसे मानी जाएगी परंतु भावना कहती है कि यह व्याख्या अपरिपूर्ण है और उससे अधिक ऐसी कुछ चीज माता यह पदमें है कि जो केवल भावनागम्यहि है।

यही विचार गीताके बारेमें रखिये। चाहे गीता व्यावहारीक सृष्टीमें हो चुकी या न हो चुकी यह बात विशेष महत्वकी नहीं। परंतु यह गीता अर्जुनोपदेशके रूपसे इस

संसारको जो एक विचारप्रवर्तक, मार्गदर्शक और हरेक जीवन के अंशमें प्रदीप बनी है यह बात मुख्य है। जीवनके हरेक अंशको गति देनेवाली शक्ति और उसे उन्नतिके पथपर चलानेवाली शक्ति, सिवाय भगवानके किस औरकी हो सकती है? अतः गीता भगवदुक्त है। अर्जुन निमित्त मात्र है। उस निमित्तसे अखिल मानव जातीको व्यासजीने संदेश दिया है। भगवानके इस गीतात्मक उपदेशको श्रीव्यासजीने अपने शब्दोंसे महाभारतमें ग्रथित किया और मानवसमाजके आगे रखा है।

भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनको गीता कही अतः वह गीता अति पवित्र ग्रंथ है। उसमें शंका लेना महापातक है। इस प्रकारकी श्रद्धामें, गीता यह त्रिकालाबाधित ऐसा जीवन-सिद्धांत कहनेवाला ग्रंथ है, चाहे वह भगवदुक्त हो या न हो। इस प्रकारकी श्रद्धा अत्यंत श्रेष्ठ है। पहेली श्रद्धा बुद्धिवादके झंझावातसे कभी उडनेका संभव है। परंतु दूसरी श्रद्धा नास्तिनयके अनेक झंझावातोंके सामने अचल रहेगी। और वही श्रद्धा आज हमको चाहिये। ग्रंथके विषयके महत्वमें श्रद्धा चाहिये। ग्रंथकर्ता विषयक श्रद्धा गौण है।

अध्याय १

मोहोद्गम

। नमोस्तुते व्यास विशालबुध्दे ।

प्रथम अध्याय यह अखिल अध्यायोंका निमित्तरूप है। अध्यात्म नीति· कर्माकर्म विवेक, पुण्यापुण्य विवेक, धर्माधर्म विवेक, कर्तव्याकर्तव्य विवेक, भक्तिज्ञान वैराग्य विवेक इन सब चीजोंका वर्णन करनेके लिये जो एक भूमिका चाहिये, वह भगवान व्यासजीने इस अध्यायमें अर्जुन विषाद के निमित्तसे बनादी है। उस भूमिकाके साथ जब मनुष्य तादात्म्य पावेगा तबहि उसको आगेके अध्याय समजनेमें सफलता होगी अन्यथा नहीं। यह बात भी इससे सूचित कर दी गयी। अर्जुन होकर गीता पढनी चाहिये और गोपी बनकर रासपञ्चाध्यायी पढनी चाहिये इस लौकिक उक्तिमे विशेष अर्थ है। उन भावोंके सिवायका पढना नहींके समान

ही है। और वह भाव उत्पन्न करनेके लिये व्यासजीने भूमिकारूपसे यह अध्याय बनाया है।

शिष्टाई व्यर्थ हो गयी और कौरव पांडव युद्धार्थ सिद्ध हो गये। उस वखत युद्ध समाचार जाननेके लिये आतुरता होना यह तो स्वाभाविक है और उसमें धृतराष्ट्रको विशेष जिज्ञासा होना यह तो और भी स्वाभाविक है। उस समय व्यास भगवान आकर उसे पूछते हैं कि तुम स्वयं युद्ध देखना चाहते हो तो तुमको दिव्यदृष्टि देता हूं। परंतु उसने कुलक्षयको स्वयं देखना पसंद नहीं किया और समाचार जाननेकी जिज्ञासा तो थी अतः उसके संजय नामक सेवक को दिव्यदृष्टि देकर व्यासजीने धृतराष्ट्रकी जिज्ञासा पूरी की। इससे पता चलता है कि संजय बैठे बैठे उसी स्थानसे सब कुछ देख सकता था और धृतराष्ट्रको सुनाता था। परंतु आगे युद्धवर्णन पढनेसे मालुम होता है कि संजय दो तीन वार युद्धभूमिपर आया था और एक वख्त तो भीमके हाथमें आ गया था और मरते मरते बच गया था। उस समय भीम उसे कहता है कि 'तेरा काम वार्ताहरका है और तूं हथियार लेकर यहां सामिल हुआ यह ठीक नहीं। इस समय तुझे छोडता हूं और फिरसे आया तो मार डालूंगा'। अब इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ एकहि होता है कि संजय वार्ताहर था और बीच बीचमें समरभूमि-पर आकर किंवा अन्य कर्मचारीओंके द्वारा समाचार मिला-

कर धृतराष्ट्रको कहता था। दिव्यदृष्टि यह एक कल्पना है और गीताकी महत्ता बतानेके लिये महाभारतमें मानी गयी है।

धृतराष्ट्रका प्रश्न 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इससे शुरू होता है। उसपर संजय समरभूमिका वर्णन करता है। अनेक रथी महारथी अतिरथी एकत्रित हुये हैं। उन सबका संक्षेपसे वर्णन आता है। उनके बीचमें अर्जुनका रथ, जिस पर श्रीकृष्ण भगवान सारथी थे, उपस्थित होता है। यह तो धर्मयुद्ध था अतः जब तक रीतसर युद्धकी शुरुआत न होती तब तक कोई किसीको प्रहार कर नहीं सकता था। क्रिकेट, फुटबॉलकी म्यॅचकी कल्पना कर लीजिये और फिर इस भारत युद्धके ओर देखिये। उस जमानेमें युद्ध यह क्षत्रियोंके लिये एक म्यॅचके सरिखा प्रसंग था। फिर उस वख्त रणक्षेत्रमें विरुद्ध पक्षके और स्वपक्षके नेताओंको देखने के लिये इधर उधर जाना असंभव नहीं। यह प्रसंग व्यासजीने बताया है जिसका वर्णन संजय धृतराष्ट्रको बताता है।

वहां भीष्म द्रोणादि पूजनीय पुरुष विरुद्ध पक्षमें, और विराट द्रुपदादि वन्दनीय पुरुष भी स्वपक्षमें देखता है। लढाई के अंदर कौन किसके हाथसे मर जायगा इसका कुछ नियम नहीं। दोनो पक्षमें तुल्य बल वीर थे। उस युद्धक्षेत्रमें, उस समयके बालबच्चोंके सिवा, सर्व तरुण और प्रौढ वीर उपस्थित थे। अब इनका संहार तो जरुर होगा ही। यह

कल्पना अर्जुनके मनमें आती है और उस कल्पनासे आगामी अनर्थपरंपरा वह अपने मन:चक्षुके सामने देखता है। यह घटना भी प्रासंगिक है। सामान्य मनुष्यका अंतःकरण तो विदीर्णही हो जायेगा। फिर,अर्जुन जैसा संस्कारी पुरुषको यह कल्पना आयी यह मानना योग्य ही है। उस व्याकुलता का वर्णन 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण.' यहांसे शुरू होता है। इस वर्णनका उठाव संजय और भी करुणामय भाषासे कर देता है। जिसके पढनेसे पाठकका भी अंतःकरण आर्द्र हो जाता है। यही व्यासजीकी प्रतिभा है। उसको पढनेके समय पाठकको ऐसाहि मालुम पडता है कि अर्जुनका यह कहना बिलकूल ठीक है। अगर इस समय अर्जुन जो हट गया होता तो आगामी कितनी ही अनर्थपरंपरा, जो भारत पर बीती है, टल जाती। उस युद्धके न होनेसे क्षत्रसंहार न होता। युद्धविद्यां, राजविद्या इत्यादि देशोपयोगी विद्याओंका विनाश न होता। आज हम प्राचीन युद्धवर्णन एक कादम्बरी जैसा कल्पनागम्य वस्तु जैसा पढते हैं। रथकी यथार्थ कल्पना भी हमें आती नहीं। अस्त्र और शस्त्र इनकी भी कल्पना हमें ठीक आती नहीं। यह सब आपत्ति एक मात्र भारतीय युद्ध न होनेसे टल जाती। आर्यसंस्कृतिका रक्षण करनेवाला बडा भारी समाज उस युद्धमें नष्ट हो गया यह भारतीय संस्कृतिपर बडा भारी प्रहार हैं। भारतीय युद्धके बाद ही परकीय आक्रमणका जो रास्ता पट गया वह

अभीतक मिटता नहीं। अनेक अनार्य लोगोंने भारतपर आक्रमण करके उसे अनार्यमय कर दिया यह प्रत्यक्ष है। और यही बडा भारी विनाश अर्जुन अपने मन-चक्षुके सामने देख रहा है और विकल होकर श्रीकृष्णसे कहता है 'न योत्स्य' इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'।

व्यासजीकी यह कल्पना अत्यंत स्वाभाविक और हृदयंगम है। इसमें कृत्रिमता यत्किंचित् भी नहीं जान पडती। वाचक उस वर्णनके साथ वह जाता है और वही सत्य मान कर एकरस हो जाता है। यही तो कविकी प्रतिभा है। यही कविका वैभव है। आगामी आनेवाले वर्णनकी भूमिका इतनी यथार्थसे की हुई अन्यत्र क्वचित् ही मिलेगी। अर्जुन जैसा अतिरथी वीर, रणकारी पुरुष, राज्यनेता, श्रीकृष्णका सखा, उत्तम भक्त ऐसे पुरुषकी जो ऐसी विकलावस्था हुई तो सामान्य मनुष्यकी क्या कथा? यह बतानेका भावार्थ।

बडे भारी पिशाचके झपटमें आये हुओ मनुष्यको मांत्रिक भी बडा भारी प्रभावशाली चाहिये। यहां व्यासजीने श्रीकृष्ण जैसा मांत्रिक लाकर प्रसंग बनाया है। कुशल मांत्रिक सूक्ष्मतासे देखकर जैसा पिशाच पीडित रुग्णपर अपना प्रयोग शुरू करता है वैसाहि अब यहां भगवानपद प्राप्त किया हुआ बडा भारी मांत्रिक अर्जुनके ओर सूक्ष्मतासे देखता है और इसके पिशाचको कुशलतासे झटक डालता है। मांत्रिक

पिशाचके अनेक ढंगढांगके ओर देखता ही नहीं। वह उसके मूलको पकडता है। सर्पकी ढंगबाजी मदारी ख्यालमें लेता ही नहीं। उसकी दृष्टी उस नागके मर्मपर रहती है। वैसाहि अर्जुनके, अनर्थपरंपरा बतानेवाले अनेकविध प्रश्नोंको भगवान यहां देखते ही नहीं। वे सिर्फ उन प्रश्नोंके मूलपर दृष्टि रखते हुये उसे ही पकडते हैं और अर्जुनके अंदरके सर्प या पिशाचके विषारको उतार डालते हैं। वे किस तरहसे उतार देते हैं यह अब अग्रिम अध्यायसें शुरू होता है।

★

अध्याय २

— मोहनाशक दो शास्त्रीय मार्ग —

प्रथमाध्यायमें युद्धजन्य भीति और तज्जन्य अर्जुनकी विकलावस्थाका वर्णन हुआ। अर्जुनकी भूमिका स्पष्ट हो गई और उसने एक प्रकारका भयानक अनर्थमंडल मनःचक्षु के सामने देखा जिससे उसे अति विषाद हो गया और वह युद्धसें निवृत्त हो गया।

व्यावहारिक दृष्टीसे उसका कहना योग्यहि था और महाभारत युद्धके बाद जो भारतवर्षके अंदर स्थिती निर्माण हुई वह उस अर्जुनके भीतिका साक्षात् सबूत है।

अर्जुनके उस प्रश्नको उसहि व्यावहारिक स्वरूपसे उत्तर देनेसें प्रश्नोंका अंत नहीं आयेगा। अतः भगवानने उस शंकाका साक्षात् उत्तर न देते दुसरे ओरसे प्रश्नको छेडा जिससे आपहि आप अर्जुनकी शंका नष्ट हो गई और अनमें वह कहने लगा 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' इत्यादि।

रोगीके अंदर दोष एकहि होता है परन्तु व्याधीका स्वरूप अनेक लक्षणोंसें व्यक्त होता रहता है। हरेक लक्षण की दवा अलग अलग नही होती। किंवा एकेक लक्षणको देखते हुवे उसपर दवा नहीं की जाती। किंतु सब लक्षणों का आकलन करके सबका मूल दोष जो होगा उसको ही पकडकर उत्तम वैद्य चिकित्सा करता है।

अर्जुनकी अनेक शंका कुशंकाए जिस एक वस्तुका आविष्कार थी वह वस्तु 'अज्ञान' यह थी। संसारकी घटना विघटना एक मात्र सत्तापर आविष्ठित है और वह सत्ता भगवानकी है। इस ज्ञानका विस्मरण यही अर्जुनके प्रश्नोंकी भूमिका थी। मनुष्य निमित्त मात्र है। मनुष्य द्वारा भगवान ही सब घटना बनाते हैं यह सत्यज्ञान है। इसका प्रत्यंतर एकादश अध्यायमें अर्जुनको हो चुका।

अब अर्जुनके अनेक प्रश्नोंको अलग अलग छेडना और उनका समाधान करना असंभव था। अतः भगवानने उन सब प्रश्नोंकी जो भूमिका अर्जुनके अंतःकरणमें दृढमूल बैठी थी उस भूमिकाको नष्ट करनेके लिये उत्तर देना प्रारंभ किया।

यह दृढमूल भूमिका यथार्थ ज्ञानका अभाव यह थी। और यह अज्ञानजन्य भूमिकाका नाश सिवाय आत्मज्ञानके अशक्य है यह देखकर भगवानने उत्तरका प्रारंभ 'अशोच्या नन्वशोचस्त्वं...' इस पंक्तिसे किया।

उस आत्मज्ञानको दो विभागमें विभक्त कर यहां भगवानने बताया है। एक विभागको सांख्यनिष्ठा या ज्ञानपद्धति और दूसरे विभागको योगनिष्ठा या कर्मपद्धति कहा है।

आत्मा व्यतिरिक्त सर्व वस्तु परिवर्तनशील हैं यह सिद्धांत दृढ रखकर दुनियाके ओर देखें तो जन्म मृत्यु वगैर सब, एक प्रकारके परिवर्तन हैं। परिवर्तन स्वभावही होनेके वजहसे उसे कोई रोक नहीं सकता। पानीका उंचे 'लेव्हलसे' नीचे आना यह उसका स्वभाव है। उत्पन्न हुआ मनुष्य बाल तरुण वृद्ध रूपसे परिणत होना और अतमें मृत होना यह मनुष्यकी प्रकृति है। यह सब परिवर्तन जिस एक शक्तिके उपर दिखाई देते हैं वह वस्तु सत्य है। तद्व्यतिरिक्त सर्व असत्य है यह बुद्धि—या विचारसरणीको सांख्य बुद्धि—सांख्य निष्ठा कहते हैं। आत्मानात्म विवेक यह इस विचार

प्रणालीका मूल सिद्धांत है। यह सिद्धांत दृढ होनेसे हर्ष शोक होना मिट जायेगा। जन्मसे हर्ष नहीं और मृत्युसे विषाद नहीं क्यों कि वे सब वस्तुके उपरके चचल भाव हैं। इसका दृष्टांत ऐसा दे सकेंगे—एकहि आदमी आज हरा पोषाख पेहरकर सामने आया, कल सफेद पोषाख पेहरकर आया, इससे मनुष्यरूपी वस्तु थोडी ही भिन्न हुई?

जन्म या मृत्यु इन लौकिक शब्दका शास्त्रीय आविष्कार देखना चाहिये। प्रकृतिके पचमहाभूतोंका विशिष्ट संयोग यही जन्म है और यह संयोगका रूपांतर होते होते उसका बिलकूल अलगहि तरहका दूसरा संयोग निर्माण होना उसी को लौकिक भाषामें मृत्यु कहते हैं। यह संयोग या वियोग मनुष्यके हाथकी वस्तू नहीं है। संसारको चलानेवाली शक्ति ही उस संयोग वियोगका कारण है यह ज्ञान सांख्य निष्ठा है।

इस ख्यालसे भीष्म द्रोणादिकोंके साथ युद्ध करना या नहीं यह प्रश्न देखिये। अगर युद्धमें अर्जुन यदि न भाग ले तो क्या भीष्म द्रोण अमर रहते थे? जिस एक आत्मतत्त्व का आविष्कार भीष्म-द्रोणरूपसे कुछ काल प्रतीत होता था यह मृत्यु बाद दूसरे आविष्कारमें जायेगा इतना ही। भीष्म द्रोणका तारुण्यसे वार्धक्यमें जाना यह कोई रोक नहीं सकता वैसाही उनका मृत्यु नामक अवस्थामें जाना कोई

रोक नहीं सकता। उस अवस्थांतरके अलग अलग कारण जरूर होते हैं। इस मृत्युरूपी अवस्थांतरका अर्जुन यह कारण बना है। यह विचारपरंपरा सांख्यनिष्ठा है।

दूसरी विचारपद्धति ऐसी है—ईश्वरहि सब विश्वका कर्ता हर्ता है। उसकी भक्ति करना यही मनुष्यका परम कर्तव्य है। यह भक्ति स्वधर्म परिपालन रुप कर्मसे होती है। जिस मनुष्य के भागमें जो जो कर्म आचुका है उसे ईश्वरकी उपासना रुपसे देखना और उस कर्मका फल श्री भगवानको समर्पण करते रहना इस प्रकारसे अपना कर्म करते रहना यह एक पद्धति है जिसे कर्मनिष्ठा, कर्मयोग यह सज्ञा है।

लोकिकमें उन कर्मको भले निंद्य वा स्तुत्य कहा जाय परतु पारमार्थिक दृष्टिसे यह एकहि हैं। जिसे स्वधर्म कहा जाता है। उसका उपरोक्त बुद्धिसे परिपालन यह मनुष्यका परम कर्तव्य है।

इस विचार प्रणालीमें मुख्य एक बात यह है कि भगवानका अनुसंधान सदैव होना चाहिये। उसे सब कर्म करते समय स्मरण रखना चाहिये जिससे हम करते हैं यह अभिमान छूटता जायगा। "नाहं कर्ता हरिः कर्ता" यह उस निष्ठाका सूत्र है। इस दृष्टिसे कोईभी भला बुरा लौकिक दृष्टिसे जो कुछ कर्म होगा यह करते रहनेसे उसका लेप मनुष्यको नहीं होगा अतः तज्जन्य हर्ष विषाद उसे न होगा। यही निष्काम कर्मयोग है।

इन दोनों दृष्टिसे अर्जुनके प्रश्नपर देखा जाय तो उसे हर्षशोक होना असंभव है। इन दो दृष्टीसे भीष्मद्रोणादि युद्धके उपर नजर रखनेके लिये भगवान अर्जुनसे कहते हैं। इन दो विचार परंपराका सेवन ठीक तरहसे मनुष्य करेगा तो उसमें स्थिरबुद्धि जो समत्वरूप रहती है वह उत्पन्न होगी और उसके हर्षशोकादि नष्ट होंगे। ये दो निष्टावाला आदमी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसके लक्षण अध्यायके अंतमें हैं। उसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है। अतः स्थिर होती है। दुनियाके कोई भी व्यवहारसे उसे प्रक्षोभ होता नहीं या आसक्ति होती नहीं। 'पद्मपत्रमिवांभसा.' यह उस मनुष्यका वर्णन किया है।

ऐसी स्थिरबुद्धि मनुष्यका वर्णन फिर अर्जुन पूछता है और 'प्रजहाति यदा कामान्,' इत्यादि श्लोकोंसे भगवान उसे बताते हैं।

सारांश, इस अध्यायमें भगवानने अर्जुनको कर्मप्रति दो दृष्टी बताई हैं। इनमेंसे कोईपण एक दृष्टि भी तुमको अभी जो शोक हुआ है उसे टालनेके लिये समर्थ है। इन दो दृष्टीमेंसे चाहे उस दृष्टिसे तुमारे विषादके ओर तुम देखो और फिर क्या उत्तर आता है वह कहो।

* * *

ब्रह्मही सत्य, नित्य निर्विकारी वस्तू है और तद्व्यतिरिक्त

जितना कुछ नामरूपात्मक दिखाई देता है वह सब असत्य है। इस विचारको सांख्यबुद्धि कहते हैं।

ईश्वरको सब सृष्टिका नियता मानकर उसे सर्व अपने कर्म समर्पण करना और क्रमप्राप्त कर्म करते रहना परंतु फलाकांक्षा मनमें न रखते हुवे ईश्वरार्पण बुद्धि रखना इस विचारको कर्मयोग कहते हैं।

उपरोक्त दो विचार उपनिषदमें भी कहे गये है। ईशोपनिषदमें "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" यह एक विचार और "कुर्वन्नेवेहकर्माणि," यह दूसरा मार्ग बताया है। इसे अतिरिक्त तिसरा कोई मार्ग जो कि अध्यात्म शास्त्रमें मंजुर हो ऐसा नही है।

अब ये दो मार्ग परस्पर भिन्न होकर स्वतन्त्रतया अध्यात्म प्राप्ति करते हे किंवा साध्य साधन होकर करते है यह विवादग्रस्त प्रश्न है। शांकर मतमें कर्मयोग सांख्य बुद्धिका साधन है। लो. तिलकजीके मतमें दोनो मार्ग परस्पर निरपेक्ष हैं अतः कर्मयोग स्वतन्त्रतया अध्यात्म प्राप्ति करानेमें पर्याप्त है।

आज तिलकजीके मतमें, आंग्ल भाषा विद्वानोका विशेष पुरस्कार है। "सांख्य निष्ठा हि केवल अंतिम मार्ग है यह प्राचीन सिद्धांत। उसमें अंतर्गत अद्वैत, द्वैत वगेरे उपपक्ष होगे। परंतु कर्मयोगहि केवल मोक्ष साधन माननेवाला कोई प्राचीन परंपरामें नही है।

इन सिद्धांत विषयक वाद ज़रा छोड़कर हर्ष शोकादि-केोंका निरास इस ख्यालमेंही अगर देखेंगे तो प्राचीन और अर्वाचीन मत फलतः एकही है। अर्जुनका विषाद, उसका कारण और किस प्रकारसें वह विषाद हटकर वह फिर स्वकर्मरत होगा यही केवल प्रश्न सामने रखकर विचार करें, तो यह मालुम पड़ता है कि सांख्यनिष्ठा जितनी इस विषाद को हटानेमें परिपूर्ण है उतनीहि योगनिष्ठा या कर्मयोग पर्यास है। सांख्यनिष्ठामें ज्ञान प्राधान्य है और कर्म या योग-निष्ठामें श्रद्धा प्राधान्य है।

एक घरमें पूर्ण विवेकी पुरुष होनेसे गृहस्वास्थ्य रह सकता है किंवा गृहपतीके साथ आज्ञाधारकत्व पूर्ण होनेसे भी गृहस्वास्थ्य रह सकता है। गृहपतिकी आज्ञा परि-पालन करना, उसके मतानुसार वर्तावं करना इत्यादि धर्म गृह-पुरुष श्रद्धासें पालन करते हैं अतः गृहस्वास्थ्य पूर्ण रहता है। विवेकी पुरुष, गृह यह क्या चीज़ है, गृहपिता यह क्या चीज़ है इसका शास्त्रीय आकलन करके, विना कहे स्वयं शासित धर्मका पालन करता है और गृहशांति निर्माण करता है।

इस दृष्टांतसे सुखदुःखात्मक दुनियाके व्यवहार तथा इष्टानिष्ट कर्म तथा रागद्वेषपूर्ण व्यापार इन सबके प्रति आत्मज्ञानके ओरसें देखना यह शास्त्रीय दृष्टी है। इस दृष्टीसे

मनुष्यको रागद्वेष तथा हर्षशोकसे पर होना शक्य है। और दुनियाका चालक ईश्वर है, हम सब उसके सेवक हैं और हमारा काम उस ईश्वरकी सेवा करना एतावन्मात्र ही है इस ख्यालसे संसारके हरेक व्यवहारपर दृष्टी रखना यह एक आज्ञाधारकत्वकी दृष्टी है। इसीसे भी मनुष्य रागद्वेष तथा हर्षशोकातीत हो सकता है।

गीताके अंदर मनुष्यका रागद्वेषातीत होनेकी युक्ति बताई है। वह युक्ति इन दो प्रकारसे भगवानने बताई है। उन दोनोंका भी फलतः लाभ एक ही है।

अर्जुनका मोह नष्ट होनेके लिये उपरोक्त दो मार्ग एकसे उपयुक्त हैं यह बात सिद्ध हो गई। अब अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न हो गई कि सांख्यका जो शांतिप्रधान, विचारप्रधान मार्ग है वह छोडकर कर्ममार्ग जो कि अनेक झंझटयुक्त है उसे क्यों ले? पहला शांतिमार्ग ही ठीक है। अतः अग्रिम अध्यायमें अर्जुन पूछता है कि 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किंकर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव'।

卐

अध्याय ३

— योगमार्ग —

द्वितीय अध्यायमें सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा इन दो पद्धतियोंका भगवानने वर्णन किया। इन दो पद्धतियोंका अवलंब करनेसे मनुष्य हर्षशोकसे अतीत हो सकता है अतः जन्म-मृत्यु तथा सुखदुःख इन द्वंद्वोंके आघात उसें व्याकुल नहीं कर सकते। ऐसा द्वंद्वातीत मनुष्य, क्रम-प्राप्त जो स्वआचार होगा उसें विना रज पालन करता है। अर्जुनके अदर इन दोनोंमेंसे एक भी निष्ठा उत्पन्न हो जाय तो उसे भीष्म द्रोणादिकोंके साथ लढनेकी भीति न रहेगी, न कुल-क्षयकी भी भीति रहेगी।

इन दो पद्धतियोंमें सांख्य पद्धति शांतिप्रधान है और योग पद्धति क्रियाप्रधान है। वास्तविक दोनों पद्धति मूलत एक ही हैं परंतु उसका रहस्य न समझनेके कारण अर्जुनको ऐसा लगा कि सांख्य पद्धति जो शांतिप्रधान-निवृत्तिप्रधान है उसे अवलंब करना छोडकर योग पद्धति जो क्रियाप्रधान-

प्रवृतिप्रधान है उसे क्यों अवलंब करें? अत: अध्यायकी शुरूआतमें यह पूछता है कि 'ज्यायसी चेत् कर्मणः'

वास्तविक इस विचारसरणीमें एक सुप्त दोष है यह अर्जुनके मनमें गूढसा था। सांख्य निष्ठा योगनिष्ठासे शांतिप्रधान है अत: उसका सेवन करना यह कल्पना ही बताती है कि अमुक वस्तुसे घृणा और अमुक वस्तुसे प्रेम है। परंतु घृणा और प्रेम इनसे अतीत होनेका मार्ग इसमें नहीं। अतः मोह यह वस्तु तो कायम रही।

इस लिये भगवान उसे समजाते हैं कि 'लं केऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगीनाम्' 'न कर्मणामनारंभात् नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।' केवल कर्मत्याग यानी कर्म न करनेसे नैष्यकार्म्यसिद्धि यानी कर्मफलनिर्लेपावस्था नहीं प्राप्त होती किंवा संन्यास करनेसे सांख्यनिष्ठा यानी द्वंद्वातीतावस्था नहीं प्राप्त होती। इनके पिछे जो अंतःकरण है उससे यह निष्ठा प्राप्त हो सकती है। केवल संन्यास करके मनमें यदि विषयोंका स्मरण चलता रहेगा तो यह मिथ्याचार कहा जाता है। और कर्म नहीं करना यह ही ख्याल पकडते हुओ जो बैठना चाहे तो उसका हस्तपादादि संचारण, भोजन इत्यादि कर्म तो बंद न हो सकेगा। अतः कर्म नहीं करना यह हठ नहीं चलेगा। कर्म और अकर्म;

संन्यास और भोग इनके पीछे जो मनोवृत्ति होगी उससे उसका माप किया जाता है न तु जड वस्तुसे। इसी लिये भगवानने जनक वगैरेका दृष्टांत देकर इस विषयको विशद किया है।

अंत:करणमें ईश्वरार्पण बुद्धि किंवा आत्मानात्म विवेक प्रगट होना यह असली बात है। इसीकोहि कर्मयोग और सांख्ययोग कहते हैं। इस प्रकारकी बुद्धि एक समय अंत-करणमें उत्पन्न हुई तो फिर दुनियाके व्यवहार प्रकृतिके अनुसार चलते रहेंगे। प्रकृतिके व्यवहार पर मनुष्यका नियत्रण नही है। न किसीका अभीतक था या आगे होगा। श्वासोच्छ्वासादि यह प्रकृतीके हाथमें है वैसेहि लढना, मारना, खाना पिना भी प्रकृतीके हाथमें है। उत्पन्न हुआ पुरुष कुछ विशेष प्रकृति लेकर पैदा होता है और उसके अनुरूप उसका वर्तन होता रहता है। 'स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा' यह उसका वर्णन है। अतः जो विवेकी पुरुष होता है वह कर्म मात्रको प्रकृतिपर छोडकर आत्मरति या ईश्वर-भक्ति इसमें लीन रहता है। बुद्धि, आत्मा या ईश्वरमें रहती हैं और इंद्रिय अपने अपने व्यवहार करते रहते हैं। उसका उसके अंत करणपर कोई असर नहीं पडता यहही ज्ञाननिष्ठा या योगनिष्ठा है। यही समजानेके लिये ही भगवान अर्जुन को वारवार कहते हैं 'तस्मात् योगी भवार्जुन,' 'तस्मात् युद्धस्व.' 'यं हि न व्यथयंत्येते,' 'आगमापायिनोऽनित्याः,'

'स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते,' 'विहाय कामान्,' 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इत्यादि।

यह सुनकर अर्जुन पूछता है ऐसा जो हो तो मनुष्यको किसके जरीयेसे न माना हुआ हठसे करना पडता है और माना हुआ भी हठसे नहीं कर सकता जैसा पिशाच पीडित मनुष्य लाचार होकर अनेक प्रकार करता है वैसा मनुष्य 'पश्यन् अपि न पश्यति,' 'अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पुरुषः,' 'बलादिव नियोजितः,' कुकर्म करते रहता है?।

उत्तरमें भगवान कहते हैं कि सबका मूल अज्ञान है। अज्ञानजन्य दो पिशाच मनुष्यके अंदर खूब गहरे जाकर बैठे हैं। वे हैं काम और क्रोध! मोहसे मनुष्य कुछ मान लेता है और जब उसके तरफ आकर्षित होता है तब उसमें काम का संचार होता है। यह काम पूरा न हो गया तो उसी का ही रूपांतर क्रोधमें होता है। अतः ये दो महान शत्रु मनुष्यके अंदर कायम बैठे हैं। उनको निरोध करना यह ही मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। वे तो नष्ट तब होंगे जब आत्म-निष्ठा या ईश्वरनिष्ठा दृढ होगी। 'संस्तभ्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'।

सारांश ज्ञाननिष्ठा या कर्मनिष्ठा वास्तवमें एक ही है। इसके बाह्य स्वरूपपर दृष्टि रखकर यह सुखकर मार्ग और यह दुःखकर मार्ग ऐसा मानना यह अज्ञान या मोहका लक्षण

है। इन मार्गोमें तारतम्यका सवाल है ही नहीं। दोनों ही मार्ग हर्षशोकातीत करनेके लिये मनुष्यको योग्य बनाते है। इन मार्गोंके अवलम्बमें विघ्नरूप, काम, क्रोध हैं। उनका निःशेष नाश करना चाहिये। उनके नाश विना आत्मज्ञान नहीं होगा और आत्मज्ञान विना उनका नाश सुकर न होगा। दोनो परस्परावलंबी हैं।

ज्ञाननिष्ठा या कर्मनिष्ठा बाह्यत: भिन्न दिखते हैं परंतु मूलत: एकही हैं यह मानना यही सच्चा मानना है। 'सांख्य-योगौ पृथक् बाला: प्रवदन्ति न पंडिता:'। इसका ठीक आकलन जब होगा तब यह तुम्हारा प्रश्न 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' यह उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा।

उपरोक्त निष्ठा स्थिर करनेवाद फिर तुमको भीष्मद्रोण हत्या या कुलक्षय इत्यादि जन्य अनर्थ भीति नहीं सतायेगी, तुम उन सबके पार निकल जाओगे ऐसा भगवानका अर्जुन प्रति कहना है।

स्वभावसिद्ध जो कुछ कर्म होगा उसे करते रहना चाहिये। चाहे वह कर्म लौकिक दृष्टिसे बुरा हो या भला हो। यह कर्म परंपरा अनादि कालसे चली आयी है। 'सहयज्ञा: प्रजासृष्ट्वा:', 'यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोय कर्म बंधन:' इत्यादि विषय साथ साथ कहे गये। [यज्ञ विरहित जितना कुछ कर्म हो वह बंधनकारक है यह भगवानने जोरसे

प्रतिपादन किया है। 'भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात्'। ऐसी सकाम कर्मोंकी या यज्ञविरहित कर्मोंकी निंदा की गयी है।

पंचम कर्म मार्गपर विशेष प्रकाश डालनेवाला यह अध्याय है। अतः लो. तिलकजीके मतमें इस अध्यायको विशेष जोरदार माना जाता है। ज्ञाननिष्ठाके लिये जो चित्त-स्वास्थ्य चाहिये वह संपादन करनेका यह निष्काम कर्मयोग मार्ग, इस अध्यायमें बताया है ऐसा श्रीशंकराचार्यजीका सिद्धांत है। वे कर्मयोग ज्ञानयोगका पूर्वाङ्ग मानते हैं। लो. तिलकजी स्वतंत्र मार्ग मानते हैं।

फलतः निष्पन्न तो यही है कि 'गुणा गुणेषु वर्तंते,' 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्षति,' इस रूपसे ज्ञानी पुरुषका, सांख्य-निष्ठावाला पुरुषका कर्म चलते रहेगा और ईश्वरार्पण बुद्धिसे फलाकांक्षा न रखते हुवे ऐसा कर्म कर्मयोगीका चलता रहेगा यह बात सत्य है।

इन दो पद्धति व्यतिरिक्त तिसरा मार्ग नहीं है कि जिसमें मनुष्यको कर्मबंध न लगेगा। इन दो पद्धति व्यतिरिक्तका कर्म बंधनकारक है अतः हर्षशोक देनेवाला है। वह असुर लोकको ले जानेवाला कर्म है। इसका कारण अज्ञान है और वही मिटाना मनुष्यका कर्तव्य है इस बात पर, इस मोह-नाशकी बात पर, भगवानने जोर दिया है।

अब यहां यज्ञके बाबतमें गीताका ख्याल और उसकी

शास्त्रीय मीमांसा करनी चाहिये। मनुष्य जन्मता है, थोड़ी बहुत प्रवृत्ति करता है थोड़ी प्रतिष्ठा कमाता है और अंतमें मर जाता है। अब जब वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तब उस प्रतिष्ठामें कितने लोगोंका भाग होता है यह जरा सूक्ष्मतया देखें। उदाहरणार्थ कोई एक मनुष्य जन्मतः दरिद्री है सयोगवशात् कुछ विशेष सहायता मिलनेसे शिक्षण पूरा करता है, बड़ी शिष्यवृत्ति कमाता है, उच्च शिक्षण भी पूरा करता है और बड़ी जगहपर अमलदार बन जाता है। अब इस क्रममें कितने भागीदार हैं? मातापिताने उसको शरीर दिया। वह न होता तो पीछेकी कोई बात ही न उठती। आप्त और स्नेहीजनोंने उसे कुछ आर्थिक मदद की। समाजने और कुछ शिष्यवृत्ति दी होगी। कोई प्रोफेसरने विशेष लक्ष्य देकर उसे अधिक विद्याक्षम किया होगा। सरकारने बड़ी शिष्यवृत्ति देकर उच्च शिक्षणकी व्यवस्था की होगी। बीचमें अनेक आधिव्याधियोंमें स्नेही स्वजनोंने उसकी शुश्रूषा करके उसे प्रोत्साहित किया होगा। इस प्रकार अनेक सहाय्योंके जोरसे ही वह आज इस प्रतिष्ठाको देख सका अर्थात् उन सबका भाग इस प्रतिष्ठामें जरूर मानना होगा। इसके अलावा जिस कुलमें वह उत्पन्न हुआ उस कुलके आचार भी उसके जीवनको बनानेमें भागीदार हैं ही। उपरांत वह जिस धर्मका अनुयायी होगा उस धर्मकी नैतिक सहायता तो है ही।

अब प्रतिष्ठा मिल जाने बाद जो मनुष्य इन सब भागीदारोंको भूल जाय और अपना खुदका हि स्वार्थ पूरा करनेमें उद्यत रहे तो वह चोर ही है ना! कईके पाससे सौ रुपिया, कोईके पाससे हजार रुपिया ऐसा जमा करके व्यापार करनेवाला वैश्य, जो संपन्न होने बाद उन उन मनुष्योंका कर्ज निवारेगा नहीं तो वह मनुष्य दोषी कहलावेगा, चोर कहलावेगा।

इस दृष्टिसे हरेक मनुष्यके जीवनमें अनेक व्यक्तियां भागीदार रहती हैं। मातापिताका ऋण, समाजका ऋण, आप्तजनोंका ऋण, देशका ऋण, धर्मका ऋण और सबसे बढकर ईशऋण जो अध्यात्मऋण कहलाता है। इन सब ऋणोंमेंसे मनुष्यको मुक्त होना चाहिये! यह बात भूलकर जो केवल स्वत.के लिये ही जीता है, वह गीताकी दृष्टिसे 'अघं भुञ्जते' 'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः'।

[ऐसे ऋणोंका विभाग, गीताने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ऐसा किया है।] आधिभौतिक ऋण तो यहांका हमारा व्यवहार, आधिदैविक यानी देवतांदेशक कर्म जैसे यज्ञयागादि। अखिल सृष्टिधारक जो वायु, सूर्य, चंद्र इत्यादि देवता माने हैं, उनके सूक्ष्म अंश हरेक मनुष्य, प्राणीमात्रमें भी उतरकर उसके जीवनको चलाते हैं। वे अंश न होते तो हमारा यह मांसपिंड चल भी नहीं सकता।

'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' 'चन्द्रमा मनोभूत्वा-हृदय प्राविशत्' अखिल सृष्टिका मसाला जो एक ही है तो उसके अंदरकी व्यक्तिका मसाला भी वही होना चाहिये। जो सूर्य अखिल सृष्टिमें अपने किरणोंसे जीवन डालता है उसी सूर्य के अश हमारे शरीरमें भी आते होंगे। जो वायु अंतरिक्षमें संचार करके सृष्टिकी किया नियंत्रित रखता है, वही वायु हमारे शरीरमें प्राणापानादि व्यवहार नियंत्रित करता है। ऐसा हमारा प्राचीन सिद्धांत है। इस दृष्टिसे हमको अनेक देवताओंका ऋण अदा करना रहता है।

उसके उपरांत आत्माका सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य बाकी है ही। मनुष्यके अंदरकी चैतन्य कला यह आत्माकी वस्तु है। आत्मा यानी ब्रह्मकी शारीरिक मूर्ति। ब्रह्म यानी विश्वव्यापी चैतन्य तत्त्व। तब ब्रह्मप्रति प्रत्येकका अंतिम और सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य बाकी है। उसे पूर्ण किये बिना कर्ममुक्ति नहीं, ऋणमुक्ति नहीं। मातापिताका ऋण कोई अदा करता है, समाजके ऋणमेंसे कोई मुक्त होता है, देशके ऋणमेंसे भी कोई पसार होता है, कोई देवोंके ऋणमेंसे भी उत्तीर्ण होता है परंतु बहोत ही कम लोग आत्माके ऋणका ख्याल रखते हैं। ये सब यज्ञ ही हैं और उन सब यज्ञोंकी पूर्णाहुती आत्माका ऋण अदा किये बिना होती नहीं।

इस लिये गीताका कहना यह है कि कोई भी मनुष्य

ऋण सिवाय जन्मता नहीं, ऋण सिवाय जीता नहीं तब उससे ही यह निकलता है कि उसको कुछ न कुछ करना चाहिये। और वह कर्म इन ऋणोंसे मुक्तिके लिये करना यह उसके अंदरका विवेकी मार्ग होगा। इसीको ही शास्त्रीय भाषामें यज्ञ कहते हैं। अब यह कर्म किस रीतिसे करना कि जिससे ऋणमुक्ति तो हो जाय परंतु उससे और ऋणका बोझा बढे नहीं, यह 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इस उक्तिसे अग्रिम अध्यायमें बतायेंगे। [यहां पर फक्त इतना ही सिद्ध किया है कि मनुष्य कुछ न कुछ बोजा लेकर जन्मता है,] उस बोज सिवाय जीता नहीं। तो फिर तेढामेढा जाकर विक्षिप्त आचार करनेसे, शास्त्रीय आचार उपर ही अपना अधिष्ठान लेना क्या खराब? [उसका शास्त्रीय प्रकार यज्ञ है।] यह करनेकी यशस्वी चावी अब भगवान कहना चाहते हैं। उसके लिये अब आगेका अध्याय आरंभ होता है।

卐

अध्याय ४

— यज्ञविस्तार —

तृतीय अध्यायमें निष्काम कर्म यह कर्मलेप न होनेकी हिकमत है यह बताया गया। और उस ढंगसे अनेक लोगोंने अभीतक कर्म किये हैं यह कर्मका तरीका यह कर्मयोग, भगवान कहते हैं, मैंने पहिले विवस्वानको बताया और उन्होंने फिर मनुको और मनुने इक्ष्वाकूको इस मार्गकी पहिचान दी।

अर्जुन शंका उठाता है 'अपरं भवतो जन्म' उत्तरमें भगवान कहते हैं "बहूनि मे व्यतितानि जन्मानि तव चार्जुन' आजतक कई जन्म हमारे और तुम्हारे हो चुके हैं इन सब को तुम भूल गये हो परन्तु मुझे सबके सब याद हैं। जीव और ईश्वर इन शब्दोंका यहां परिचय ज़रा करना होगा। वास्तवमें एक ही तत्व जिसको ब्रह्म कहते हैं, वही विद्यमान है, उसके व्यतिरिक्त सब अनित्य होनेके कारण मिथ्या है।

जब सृष्टिका वर्णन होता है तब उस सृष्टिके प्रवर्तक दो शक्तियां होती हैं यह माना गया है। [एक जीव और दूसरी शक्ति ईश्वर] इनके अतिरिक्त सब जड सृष्टि है। जो ब्रह्मका अज्ञानावच्छिन्न अंश कर्मफलका भोग करता है और अनेक जन्मोंमें फिरता है उस अंशको जीव कहते हैं, उसको मोह, अज्ञान वगैरेहका सम्पर्क रहता है, परन्तु दूसरा एक अंश जो विद्यावच्छिन्न ज्ञानावृत्त होकर सृष्टिमें विचरता है उसे ईश्वर कहते हैं। वह कभी भी मोह, अज्ञान इत्यादिसे सम्पृक्त नहीं होता। सदैव ज्ञानपूर्ण रहता है। यही अंश भक्तोंका रक्षण करनेके लिये, दुनियामें धर्म संस्थापना करनेके लिये अवतार लिया करता है। इसी अंशके राम, कृष्ण, इत्यादि अवतार हैं।

जीवात्मक अंश जैसे अर्जुन, भीष्म, इत्यादि जीव कहे जाते हैं उनमेंमोह, राग, द्वेष, इत्यादि हो सकते हैं, कर्म-भोग उनमें हो सकता है यह अंश ही बारम्बार जन्म लेकर संसारचक्रमें फँसा रहता है, अत: उसे पूर्वजन्मका ज्ञान नहीं रहता।

यही बात श्रीकृष्ण 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप' इस श्लोकसे कहते हैं। जब जीवका अज्ञान नष्ट होता है, उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है तब उस ज्ञानसे उसे पूर्व स्मृति होती है और वह जानता है कि मेरे आजतक

कई जन्म हो चुके हैं। फिर विद्यमान जन्मके ही लिये उसे विशेष मोह नहीं रहता।

ईश्वर अंश निर्लेप होकर जन्म हुवा या मृत हुवा इस वाक्य प्रयोगमें अतीत रहता है, लौकिकमें भले कृष्णजन्म, रामजन्म इत्यादि शब्दप्रयोग प्रचलित हो, परन्तु वास्तवमें उसे जन्म-मृत्युसे कुछ सम्बंध है नहीं 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा. ....प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया' ऐसा सम्यक ज्ञान जिसको होता है वह जन्म या मृत्यु इन शब्दोंसे भीती नहीं रखता। जन्म लेते हुवे जन्म नहीं हुवा, कर्म करते हुवे कर्मका लेप नहीं, भोग भोगते हुवे संम्पर्क नहीं यही कर्मयोगकी श्रेष्ठता है।

इस प्रकारका कर्मयोग पूर्व महर्षियोंने किया है जिस का ज्ञानदाता श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मैं था। लौकिक दृष्टिसे मेरे अनेक जन्म हो गये हैं तथापि मैं अज अशाश्वत हूँ। मेरे ऊपर उन अनेकविध जन्मोंको कुछ असर नहीं है, यह जो जानता है वही यथार्थ जानता है, अत. भगवान अर्जुन को कहते हैं कि उस प्रकारका कर्मयोग तु आचर, जिससे तुझे भी मेरे जैसा ज्ञान प्राप्त होगा।

फलाशा रहित, निर्द्वन्द्व होकर कर्म करना यही उत्तम कर्मयोग है जो ज्ञानकी स्थिति प्राप्त करा देता है। एवं जो कुछ कर्म हो वह यथार्थ किया जानेसे उसका परिपाक

प्रदान करनेका धर्म नष्ट होता है। वह कर्म निर्बीज होता है। यज्ञ सिवायका कर्म सबीज होनेके कारण मनुष्यको बन्धनकारक होता है एवं निष्काम कर्म करनेका उपदेश भगवान अर्जुनको इस अध्यायमें बताते हैं।

कर्म दो प्रकारका होता है। एक विहित और दूसरा निषिद्ध। निषिद्ध तो दूरत: परित्याज्य है। अब रहा विहित। वह भी सकाम और निष्काम ऐसा दो प्रकारका हो सकता है। सकाम बन्धनकारक अतः पुनः पुनः संसारके दृढमूल होनेके कारण गीताको नामंजूर है। रहा निष्काम कर्म। उसका लक्षण यज्ञार्थ इस संज्ञासे बताते हैं। 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर' अतः अयज्ञीय कर्म बन्धकारक और यज्ञीय कर्म बन्धहारक यह गीताका उपदेश है।

इस अध्यायमें, ऐसे यज्ञीय कर्मके प्रकार अनेक बताये हैं। कर्मयोगीकी मूल भावना तो यही चाहिये कि 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' इस भावनाके साथ कर्मयोगी जो जो कर्म करते हैं वे अब क्रमशः बारह प्रकारसें इस अध्यायमें निर्दिशित किये हैं।

१ कोई दैवयज्ञ करते हैं जिसमें अनेकविध देवताओंकी उपासना करते हुवे फलाशारहित वे होते हैं, अनेक देवता-

थोंका अस्तित्व वे मानते हैं, एकमेव ब्रह्मबुद्धिका अभाव है। परन्तु अपना कर्त्तव्य है कि हम देवताओंके लिये हवन करें। अत कर्तव्य बुद्धिसे वे देवतोपासना किया करते हैं। कर्तव्य बुद्धिवाला मीमांसक इस कक्षामें आते हैं।

२ आत्मा और अनात्मा इन सबका एकमेव ब्रह्ममें लय करके केवल ब्रह्मकी उपासना करते हैं। वे आहुती इत्यादिका सेवन न रखते हुवे केवल ब्रह्मभावनामें रहते हैं। अत: सबका होम उस ब्रह्मभावनामें उन्होंने किया होता है। ऐसे संन्यासी नि:संग, इस कक्षाके अधिकारी हैं जैसे सनत्कुमारादि।

३ संयमरूपी अग्निमें इन्द्रियोंको होमनेवाले निग्रही पुरुष इस श्रेणीमें आते हैं। ये ब्रह्मदृष्टि वा देवतादृष्टिवाले न होते हुवे भी संयमकी आवश्यकता जीवनके लिये जरूरी वस्तु मानते हैं। अतः संयमप्रधान जीवन विताते हैं। इसमें सदाचारी संयमी पुरुष आते हैं।

४ विधिसिद्ध विषयोंका हि इन्द्रियसे सेवन करते हैं, अवैध विषयोंका त्याग करते हुवे यहां जीवन विताते हैं। उदाहरणार्थ संयमी गृहस्थाश्रमी पुरुष।

५ सर्व इन्द्रियोंका कर्म तथा प्राणापानादि वायुका सर्व शारीर व्यापार, सब प्रकृतिके खेल हैं, उसके साथ आत्मा का कुछ संबंध नहीं। आत्मा, अनात्मा ऐसा विवेक रखते हुवे जीवन वितानेवाले सांख्य संन्यासी इस कोटीमें आते हैं।

६ कई स्थूलतया यवघृतादि अग्निमें होमकर यज्ञ करते हैं जैसे अग्निहोत्री। वह द्रव्य यज्ञ हो गया। किंवा दानधर्म करके द्रव्यका होम करते हैं।

७ तपश्चर्या करनेवाले कतिपय मुमुक्षुजन तप रूपी अग्निमें जीवन बिताते हैं। वह तपोयज्ञ हुआ। कृच्छ्र चांद्रायणादि व्रत वैकल्य करनेवाले जन इस श्रेणीमें आते हैं।

८ ध्यानाभ्यास करनेवाले राजयोगी, योगरूपी यानी समाधीरूपी अग्निमें वृत्तियोंका होम करते हैं—एकाग्रता संपादन करते हैं। यह योगयज्ञ हुआ।

९ स्वाध्याय यज्ञ करनेवाले वेदाध्ययन, शास्त्राध्ययन करके जीवन बिताते हैं। यह स्वाध्याय यज्ञ हुआ। शास्त्री वैदिक ब्राह्मण समाज।

१० तत्त्वज्ञान चर्चा, शास्त्रीय चर्चा, शास्त्र सेवा इन बातोंमें जो जीवन व्यतीत करते हैं ऐसे शास्त्र संशोधक शास्त्री जन समाजोपयोगी शास्त्र संशोधक, संशोधन रूपी अग्निमें अपना जीवनका होम करते हैं। यह ज्ञानयज्ञ हुआ। इससे आधुनिक शास्त्रज्ञ, विज्ञानशास्त्री इ० आ गये।

११ अपान वायुमें प्राणकी अथवा प्राण वायुमें अपानकी आहुती डालकर योगाभ्यास करनेवाले हठयोगी, बाह्य या अंत: कुंभक करके जीवन बिताते हैं। यह प्राणायाम यज्ञ हुआ।

१२ कई लोग मिताहारी रहकर इन्द्रियोंका इन्द्रियोंमें ही विलय करना चाहते हैं। उनके मतमें आहार मूल सर्व

इन्द्रिय व्यापार होनेके कारण प्रथम आहारका तोडनेसे इन्द्रिय काबूमे आवेगे ऐसी उनकी विचारसरणी रहती है। वे आहारपर खूब नियमन रखते हैं। 'आहारशुद्धौ सत्व शुद्धि।' 'जिन सर्व जिते रसे' यह उनका सिद्धात है।

ऐसे बारह प्रकारके यज्ञ इस अध्यायमे बताये हैं। इनमे से एक भी यज्ञ यदि मनुष्य 'ब्रह्मार्पण ब्रह्महवि' इस वृत्तिसे करे तो वह नैष्कर्म्यप्रेम जरूर जायेगा ऐसा गीताका आदेश है। गीताके मतसे उपरोक्त सब प्रकार एक प्रकारसे ब्रह्मोपासना ही है। इनमका एक भी यज्ञ न करनेवाला मनुष्य हीन जीवनवाला है। उसके जीवनमें सस्कार नहीं। अत वह निकृष्ट अवस्था प्रत जाता है और उपरोक्त यज्ञ सेवाका जीवन सस्कारयुक्त होनेके कारण उन्नत होता जाता है।

गीताके जमानेमें उपरोक्त जीवन प्रकार थे। आज उसमे अधिक प्रकार होगे जैसे देशभक्ति, समाजभक्ति इत्यादि। उपरोक्त सिद्धान्तसे अगर वे भी ब्रह्मार्पण बुद्धिसे किये जाय तो वे भी अध्यात्मोपयोगी होगे। यह गीतासे ज्ञात हो सकता है। [कर्म यह स्वार्थ बुद्धिरहित तथा ब्रह्मबुद्धियुक्त होना चाहिये यह गीताका सिद्धात।]

द्रव्यमय यज्ञ स्थूल होनेसे उसके अपेक्षा अद्रव्य यज्ञ सूक्ष्म होनेसे अधिक लाभदायी है। [स्थूल प्रतिमा पूजासे मानसपूजा अधिक श्रेष्ठ है।] इसी लिये द्रव्य यज्ञसे ज्ञान यज्ञ

अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि सर्व कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं। वह असली ज्ञान प्राप्त करना यही मनुष्यका अंतिम साध्य है। उसके लिये गुरूके पास 'प्रणीपातेन सेवया' जाना पडता है और श्रद्धायुक्त और संयमी होकर उनकी सेवा करने बाद गुरु उसको ज्ञान प्रदान करता है जिस ज्ञानके जरियेसे 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' और 'न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव'।

इस ज्ञानका अधिकार सब मनुष्य मात्रको है। इस ज्ञानका प्रभाव इतना तीव्र है कि 'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥' तीव्र दर्जेकी श्रद्धा और संयम, इन दो वस्तुसे यह ज्ञानप्राप्ति हो सकती है। इनके सिवाय यह ज्ञानप्राप्ति असंभव है। अतः हे अर्जुन तू सब संशयोंको छोडकर कर्मयोगका ठीक आचरण कर, ऐसा भगवान अर्जुनको इस अध्यायमें जोरसे उपदेश करते हैं।

अज्ञ. संशयात्मा विनश्यति। संशय यह इस मार्गका महान विघ्न है। अतः उसे टालकर कर्मयोगका ठीक आचरण करनेवाला संयमी पुरुष है उसको दुनियाका एक भी कर्म बद्ध नहीं कर सकता। सर्व कर्मोके अतीत वह हो जाता है क्योंकि उसका प्रत्येक कर्म यथार्थ होता है।

अतः यथार्थज्ञानसे संशयरहित होकर निष्काम कर्म करते रहना यह सिद्धांत इस अध्यायमें सिद्ध किया गया।

इन्द्रिय व्यापार होनेके कारण प्रथम आहारको तोडनेसे इन्द्रिय काबूमें आयेंगे ऐसी उनकी विचारसरणी रहती है। वे आहारपर खूब नियमन रखते हैं। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।' 'जिन सर्व जिते रसे' यह उनका सिद्धांत है।

ऐसे बारह प्रकारके यज्ञ इस अध्यायमें बताये हैं। इनमें से एक भी यज्ञ यदि मनुष्य 'ब्रह्मार्पण ब्रह्महविः' इस वृत्तिसे करे तो वह नैष्कर्म्यप्रत जरूर जायेगा ऐसा गीताका आदेश है। गीताके मतसे उपरोक्त सब प्रकार एक प्रकारसे ब्रह्मोपासना ही है। इनमेंका एक भी यज्ञ न करनेवाला मनुष्य हीन जीवनवाला है। उसके जीवनमें संस्कार नहीं। अतः वह निकृष्ट अवस्था प्रत जाता है और उपरोक्त यज्ञ सेवाका जीवन संस्कारयुक्त होनेके कारण उन्नत होता जाता है।

गीताके जमानेमें उपरोक्त जीवन प्रकार थे। आज उसमें अधिक प्रकार होंगे जैसे देशभक्ति, समाजभक्ति इत्यादि। उपरोक्त सिद्धांतसे अगर वे भी ब्रह्मार्पण बुद्धिसे किये जाय तो वे भी अध्यात्ममार्गगामी होंगे। यह गीतासे ज्ञात हो सकता है। कर्म यह स्वार्थ बुद्धिरहित तथा ब्रह्मबुद्धियुक्त होना चाहिये यह गीताका सिद्धांत।

द्रव्यमय यज्ञ स्थूल होनेसे उसके अपेक्षा अद्रव्य यज्ञ सूक्ष्म होनेसे अधिक लाभदायी है। स्थूल प्रतिमा पूजासे मानसपूजा अधिक श्रेष्ठ है। इसी लिये द्रव्य यज्ञसे ज्ञान यज्ञ

अधिक श्रेष्ट है। क्योंकि सबे कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं। वह असली ज्ञान प्राप्त करना यही मनुष्यका अंतिम साध्य है। उसके लिये गुरूके पास 'प्रणीपातेन सेवया' जाना पडता है और श्रद्धायुक्त और संयमी होकर उनकी सेवा करने वाद गुरू उसको ज्ञान प्रदान करता है जिस ज्ञानके जरियेसे 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' और 'न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव'।

इस ज्ञानका अधिकार सब मनुष्य मात्रको है। इस ज्ञानका प्रभाव इतना तीव्र है कि 'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥' तीव्र दर्जेकी श्रद्धा और संयम, इन दो वस्तुसें वह ज्ञानप्राप्ति हो सकती है। इनके सिवाय यह ज्ञानप्राप्ति असंभव है। अतः हे अर्जुन तू सब संशयोंको छोडकर कर्मयोगका ठीक आचरण कर, ऐसा भगवान अर्जुनको इस अध्यायमें अंतमें उपदेश करते हैं।

अज्ञ. संशयात्मा विनश्यति। संशय यह इस मार्गका महान विघ्न है। अत. उसे टालकर कर्मयोगका ठीक आचरण करनेवाला संयमी पुरुष है उसको दुनियाका एक भी कर्म वद्ध नहीं कर सकता। सर्व कर्मोंके अतीत वह हो जाता है क्योंकि उसका प्रत्येक कर्म यज्ञार्थ होता है।

अतः यथार्थज्ञानसे संशयरहित होकर निष्काम कर्म करते रहना यह सिद्धांत इस अध्यायमें सिद्ध किया गया।

अब यहां अवतारके बारेमें कुछ चर्चा करनी प्रांसगिक होनेके कारण आवश्यक है। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥' यह श्लोक उस विचारका सूत्र है। 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' ऐसा भगवान स्वयं कहते हैं। इससे अवतार कल्पना गीतामें मिलती है यह तो स्पष्ट है। अब इसकी शास्त्रीय भूमिका क्या है यह देखना है।

पूर्णब्रह्म—सर्वज्ञ ईश्वर अपनी पूर्णता छोडकर अपूर्ण और परिमित बनकर अवतार लेता है यह कल्पना अशास्त्रीय है ऐसा एक पक्ष है। उनके मतमें अवतार यानी पूर्णता छोडकर नीचे आना। जो अपूर्ण बन जायेगा तो वह पूर्णताको कैसा प्राप्त करेगा। वह फिर विकारशील अतएव नश्वर पदार्थ बनेगा और ऐसा नश्वर पदार्थ ईश्वर मानना अशास्त्रीय है। इस विचारपथवाले विद्वान् अवतार कल्पनाको उडाकर रामकृष्णादिकोंको ईश्वर नहीं मानते. वे फक्त दैवी-संपत्वाले उत्कट कोटीके पुरुष थे और हमारे जैसे जन्मे हुए मनुष्य ही थे परंतु पुरुषार्थके प्रभावसे अति अलौकिक पुरुष बन गये।

दूसरे मतमें रामकृष्ण ये ईश्वर ही थे और वे पूर्णब्रह्म ही थे। भक्तोंका परित्राण करनेके लिये करुणालय भगवान अनेकवार इस भूमीपर अवतीर्ण होते हैं। पूर्णब्रह्म-सर्वज्ञ-

सर्वशक्तिई-श्वर जो सर्वशक्त है तो उनको अपूर्ण और परिछिन्न होनेमें क्या अशक्य है। पूर्णता और अपूर्णता ये तो उनके हाथका मेल है। बडा मनुष्य बालकोंके साथ अज्ञानी बनकर वर्ताव नहीं कर सकता? पिता छोटे छोकरोंके साथ उनके बुद्धिके अनुसार अज्ञानी बनकर छोकरोंको मजा देनेके लिये खेलना, कूदना इ० नहीं करता? उसी समय प्रौढ मनुष्य आ जाय तो उनके साथ प्रौढ भाषा भी करता है। वैसे ही ईश्वर भक्तानुकंप होकर उनके उपर अनुग्रह करनेके लिये लीलापुरुष वन जाय तो असंभव क्या है? बल्कि जो पूर्ण होता है वही अपूर्णका नाटक कर सकता है। जिसको अधिक ज्ञान है वही अल्पज्ञके साथ अपनी बुद्धि काबूमें रख कर वर्ताव कर सकता है। वैसे ही अवतार लेते हुये भी ईश्वर पूर्ण रह सकता है। यह विशेष रहस्य है जिसका वर्णन सातवे और नवमें अध्यायमें आयेगा। इस विचार-सरणीवाले लोगोंके मनमें ईश्वर अवतार लेता है, और भक्तों का रक्षण करता है तथापि उसका अखंड स्वरूप खंडित नहीं होता।

भगवान कहते हैं 'पृथ्वीपरके रजःकणकी गिन्ती जैसे नहीं हो सकती वैसे मेरे अवतारकी गिन्ती मैं भी खुद नहीं कर सकता'-श्रीमद्भागवत ११ स्कंध। गीतामें भी 'नांतोस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप' 'एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूते विस्तरो मया' ऐसा कहा है। 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि' इस

श्रुतीका ही उपर्युक्त अनुवाद है।

अब लोगोंसे पूछा जाय कि भगवानके अवतार कितने हैं? तो झट उत्तर मिलेगा कि दस। मत्स्य कूर्मादि दशावतारका बयान साथ साथ बताया जायेगा। भगवान तो कहते हैं कि मेरे अवतारका अंत नहीं। कथाकीर्तनमें भगवानके दशावतारका ही वर्णन जहां तहां पाया जाता है। भक्तोंने भी 'दशाकृति कृते कृष्णाय तुभ्यं नमः' 'केशव धृत दशविधरूप' ऐसा मानकर ही दश संख्या भगवदवतार पर मान ली।

यहां दश शब्दका विचार जरा शास्त्रीय पद्धतीसे करना होगा। संसारमें गणीत शास्त्रका उद्भव हमारे भारतवर्षमें हुआ ऐसा शास्त्री लोक मानते हैं। रोमन लेटर्स कितना भी साथ साथ रखीयें उससे गुणाकार न होगा न भागाकार। गणीत शास्त्र आगे चलेगा ही नहीं। जिस समय पश्चिममें हमारी १, २, ३ ऐसी दश संख्या उसके संकेतांक चल गये उस समयसे ही पश्चिममें गणीत शास्त्र शुरु हुआ। दश सख्यामें सकल गणीत शास्त्र आ गया। सब गणीत शास्त्रका दशांक मूल है। दशांक ही उलटपलट करके लक्षादि सख्या तैयार होती है। १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ और दशके लिये शून्य। बस नवके बाद शून्य और वहां गणीत शास्त्र खलास हो गया।

भगवानका अवतार हम लोग दस मानते हैं, भगवानके

अवतार, गणीत जहां समाप्त होता है वहां तक है। गणीत शास्त्रके मूलांक एक, दो, इत्यादि उससे भगवानके अवतार मापे नहीं जाते। भगवानके अवतार मापते मापते गणीत शास्त्र खतम होता है, शून्य बन जाता है यानी कहांसे शुरु हुआ और कहां खलास हो गया इसका भान भूला जाता है। उसे ही शून्य कहते हैं। शून्य गोलाकार रहता है। गोलाकार निर्माण होने बाद उस गोलकी शुरुवातका पत्ता नहीं चलता। इसी लिये भगवदवतार हम लोग दस मानते हैं यानी अनंत अवतार मानते है।

पूर्वकालमें भगवानके अवतार अनंत हो गये, विद्यमान कालमें भगवानके अनंत अवतार चलते हैं और भविष्यमें भी अनंत अवतार होते रहेंगे। जहां जहां और जिस समयपर भगवानका आविर्भाव होनेकी आवश्यकता आती है उस समयपर भगवान् त्वरित आविर्भूत होकर कार्य समाप्त करके विलीन होते हैं। विजली सब दूर भरी है पर कारण परन्वे उसका बटन दबानेसे आविर्भाव होता है। हाथ पर हाथ घर्षण करनेसे उष्णतारूपमें भी उसका दर्शन होता है, तारके दो छोड साथ आनेसे भी होता है। एकमें उष्णता रूप है, दुसरेमें स्फुलिंग रूप है और तिसरेमें प्रकाश या नादका आविष्कार होगा। भगवानका भी वैसा ही है। रामकृष्ण इन रुपोंमें भगवानने मानुष चरित किया और संसारको ठीक बनाया। परशुरामके रुपमें भगवान कुछ काल तक

प्रविष्ट हुये। कार्य समाप्ती होते ही यह आविर्भाव निकल गया और रामके साथ साक्षात् होने बाद वे तपस्याके लिये चले गये।' नृसिंह अवतार कुछ प्रहर तक ही लिया होगा। प्रह्लादका परित्राणके बाद आविर्भाव नष्ट हुआ। दो तार साथ आते ही विद्युत् अपने मूल अव्यक्त स्वरूपको छोडकर स्फुलिंग रूप पकडती है और फिर उसी अव्यक्त रूपमें विलीन हो जाती है। ऐसा ही प्रकार यहां है। 'परित्राणाय साधूनां' 'संभवामि युगे युगे' कहा जाता है कि भगवान युग युगमें अवतार लेते हैं। युग तो कुल चार ही हैं। कृत, त्रेता, द्वापर और कली। वैसा देखें तो युगे युगे यानी हरेक युगमे इस ख्यालसे भगवानके चार ही अवतार मानना पडेगा। पर हम देख सके हैं कि अवतार अनंत हैं।

संस्कृतमें युग शब्दका अर्थ जोडी यह भी है। 'परित्राणाय साधूनां' और 'विनाशाय च दुष्कृताम्' ये दो प्रबल कारण भगवानके अवतारके लिये हैं और उसके साथ धर्मकी स्थापना। धर्म शब्द यहां 'हिंदु धर्म' 'मुस्लिम धर्म' 'ख्रिस्ति धर्म' इस अर्थमे अभिप्रेत नहीं। धर्मका यहां अर्थ कर्तव्य। पुत्रका पिता प्रति, पिताका पुत्र प्रति, स्त्रीका पति प्रति, पतिका स्त्री प्रति जो कर्तव्य है वही पितृधर्म पुत्र धर्म स्त्रीधर्म पतिधर्म कहा जाता है। ऐसे अनेक धर्मकी रक्षा करनेके लिये भगवानका आना होता है। उस कार्यके लिये दुष्टोंका संहार क्रम प्राप्त होता है। अतः जिस समय

ऐसी घटना होती है कि धर्मका नाश हो रहा है और उसका पुरस्कर्ता दुष्टोंसे विहत होता है बस उसी वख्त भगवान उस समय चित रुपसे आविर्भूत होते हैं। प्रह्लादने भक्ति की उसे नष्ट करनेकी हिरण्यकश्यपुने सक्ति की। ऐसी जोडी यहां हो गयी। ऐसा 'युग' यहां बन गया। एक दैवी संपत् से आगे बढना चहता था और दूसरी ओर, दूसरा असुरी संपतके सहारे उसे तोडना चाहता था। इस युगमें, भगवान कहते हैं मैं अवतार लेता हूं।

इस संसारमें दैवी और असुरी संस्कृतीके झगडे अनादि और अनंत हैं। अत: उसमें दैवी संपत्की रक्षाके लिये भगवान् आविर्भूत होते हैं। ऐसे युग आजतक करोडों हो गये, करोडों होते हैं और होगें भी। अत: अवतार अनन्त हैं।

यही गीताका अवतारके बारेमें कहना है। 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य' 'संभवामि युगे युगे' 'तदात्मानं सृजाम्यहं' इत्यादिमें यही अर्थ सूचित होता जो कि अभीतक चर्चा गया।

इस दृष्टीसे गीताकी अवतार कल्पना देखनी होगी। उस कल्पनाके पीछे एक शास्त्रीय भूमिका है यह भी हमने देख लिया। इस भूमिकासे देखा जाय तो पूर्णब्रह्म—सर्वज्ञ विभु ईश्वरमें विकृति कहां हो सकती है? 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' [वह ब्रह्म भी पूर्ण है और अवतारधृत सगुण ब्रह्म भी पूर्णही है। इसका विशेष वर्णन अब आगे नवमें अध्यायमें अधिक होगा।]

卐

अध्याय ५

— संन्यास मार्ग —

तीसरा और चौथा अध्याय पूरा, कर्मयोगके बारेमें बीत गया। उन अध्यायोंमें कर्मलेप न होते हुए कर्म करने का ऐसा तरीका बताया कि जिससे अंतमें निःश्रेयस प्राप्त हो। उसका रसमय वर्णन सुनकर अर्जुनको फिर ऐसा लगता है कि प्रथम द्वितीयाध्यायमें संन्यासका महिमा भगवान

बताते हैं और फिर कर्मयोगका महत्व सुनाते हैं। इसमें सत्य कौनसा मार्ग है? अतः 'संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि' ऐसा उसका प्रारंभमें प्रश्न निकलता है।

वास्तविक यह प्रश्न उठनेकी कोई जरूरत ही नहीं थी। निःश्रेयस प्राप्त करनेके लिये जैसा सांख्य निष्ठा-संन्यास मार्ग कहा है वैसा हि योगमार्ग भी कहा है। परंतु दोनोंका साध्य जो द्वंद्वातीतता, स्थितप्रज्ञता, गुणातीतता यह तो एक ही है। परंतु यह ख्याल न रहनेसे अर्जुन फिर पूछता है उन दोनोंमें जो मेरे लिये निश्चित हो उसे कहिये। यह ही वस्तु बताती है कि अर्जुन भगवानके उपदेशको ठीक आकलन नहीं कर सकता था। और अर्जुनको निमित्त करके व्यासजीने यह प्रतिभाशाली अध्यात्म नीति महाभारतमें रखी है यह सिद्धांत जो पूर्व प्रवचनमें उद्धृत किया था उसको दृढ करना है।

सांख्यकी पद्धतीसे यानी सर्वसंग परित्याग करके नित्य आत्मवस्तुका विवेक सदैव जागृत रखकर जो अव्यक्तोपासना करता है वह क्या कर्मयोगका कुछ भी आचरण नहीं करता? किंवा निष्काम वृत्तिसे ईश्वरार्पण बुद्धि सदैव जागृत रखकर जो यहां कर्म करता हुआ व्यक्तोपासना करता है, वह क्या संन्यासका कुछ भी आचरण नहीं करता? कर्मयोगको छोड़ कर संन्यास टिक नहीं सकता और संन्यासको छोड़कर योग मार्ग टिक नहीं सकता। योगमार्गका आचरन करते करते

अगर वह मनसे विषयोंका चिंतन करता रहे तो वह मिथ्या-चार कहा गया है। अतः उसे मनमें विषयोंका त्यागका अभ्यास जरूर ही करना पडता है। यह संन्यास है। उलट पक्षमें सर्वसंग परित्यागवाला सन्यासी अगर आत्मसंयमके लिये कुछ भी अभ्यास न करे और केवल सर्व वस्तुका त्याग करके ही मात्र बैठे तो वह भी थोडे दिनमें पतित होगा। इसका दृष्टांत लौकिकमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अध्यात्मके अभ्यास सिवायका सन्यासी और सन्यासके सिवायका कर्म योगी दोनों भी व्यर्थ ही है। यहां संन्यास और कर्मयोग ये शब्द तत्तद् मार्गवाचक है और वे मार्ग ही ध्वनित करने का भगवानका भावार्थ लगता है। 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'। इससे वही सूचित होता है। वे दो मार्ग आगे ज्ञानमार्गमें एकत्र होते है जो सद्यः निःश्रेयसप्रद होते हैं। गंगा और यमुना तबतक भिन्न है जबतक वे प्रयागमें मिलती नहीं। प्रयागके बाद गंगा, गंगा नहीं और यमुना, यमुना नहीं। उनके अतिरिक्त संयुक्तमा उनका प्रवाह बनता है। उसे चाहे गंगा कहो, चाहे यमुना कहो, चाहे और कुछ नाम दो।

• सन्यास मार्ग तब तक अलग है जब तक वह द्वंद्वातीत, गुणातीत मार्गमें आकर पडता नहीं और कर्ममार्ग भी वैसाहि अलग है जब तक वह भी द्वंद्वातीत मार्गमें आकर पडता नहीं। द्वंद्वातीतता, गुणातीतताकी अवस्थाके बाद केवल

ज्ञानमार्ग रहता है जो कि भगवान कहते हैं 'ददामि बुद्धियोगं तम्' और यह त्वरित निःश्रेयस प्राप्त कराता है।

अब इस दृष्टीसे देखा जाय तो कर्ममार्ग और संन्यास मार्ग यह झगडा उठ ही नहीं सकता। दोनो मार्ग अेक-मेकके पूरक हैं। दोनोंका साध्य भी एक ही है। अतः भगवान कहते है जो ऐसा विभेद इन दो मार्गमें देखते है वे मूढ हैं। 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' 'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति' इस वाक्यसे संन्यासको योग की आवश्यकता और 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः' इस वाक्यसे योगमार्गके लिये संन्यासकी आवश्यकता ठीक बता दी है। 'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः' 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' यह भी कर्मयोगी मनसे संन्यस्त होकर जब काम करता है तबका उसका महत्व बताता है।

और दूसरी बात यह है कि कोई भी मनुष्य कुछ ना कुछ कर्म किये सिवाय रह ही नहीं सकता। हटसे वह कहे कि मैं शरीरकी हिलचाल तक भी न करूंगा तो उसकी जीवन यात्रा भी दुष्कर हो जायगी। ऐसा जब है तब उसमें दो मार्ग हि निकल सकते हैं। एक आस्ते आस्ते अखिल कर्मोका संकोच करके मात्र शरीरयात्रात्मक कर्म करते रहना और तद्व्यतिरिक्त सहस्र कर्मोमें जो शक्ति व्यतीत होती थी उसको

ब्रह्ममार्गमें लगाते रहना। यह मार्ग सनत्कुमारादि ऋषिओंने अनुसरा है। दूसरा मार्ग कर्मयोगीओंका। वे कहते हैं कि जब मनुष्य कर्म सिवाय रह ही नहीं सकता तब कर्म करते रहना यहि उचित है परंतु उसका लेप अपनेको न हो ऐसा अगर तरीका मिल जाय तो वह कर्म हजारों करें तो कुछ हरकत नहीं। यह तरीका ईश्वरार्पण बुद्धि यह है। अतः दोनों ही मार्गसे कर्मबंधराहित्य अभिलक्षित है।

यह कर्म राहित्य संपादनके लिये सन्याससमार्गी साधक तथा कर्ममार्गी साधक कैसा वर्ताव करते हैं, कैसा अभ्यास करते हैं और उनका प्राप्तव्य अवस्था क्या होती है इसका मिश्र वर्णन साथ साथ कर दिया है। 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत् तत्ववित्' 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्' इत्यादि वचनोंसे यही बताया है।

इन दोनों मार्गको ही आगे जाकर भक्तियोगमें अव्यक्तोपासना और व्यक्तोपासना नाम मिलते हैं जिसका वर्णन सप्तमाध्यायसे विशेष चलेगा और बारहवें अध्यायमें समाप्त होगा।

ऐसे योगी या संन्यासी 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि' समदर्शी होते हैं। इन समदर्शी लोगोंने अध्यात्म

प्राप्त कर लिया है और उसको प्राप्त करनेका अभ्यास जो ध्यानयोग रूपसे है उसका अंतमें वर्णन आता है। 'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवो: प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ' इत्यादि श्लोकोंसे आत्मसंयम अभ्यास आता है जिसका अधिक वर्णन अग्रिम अध्यायमें करते हैं।

अब यहां प्राणायामका निर्देश गीता बताती है और उसका विनियोग ध्यानाभ्यासमें करनेको कहती है। 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' प्राण और अपानकी समानता उसके विशेष अभ्याससे ही आनेवाली वस्तु है। समदर्शित्व प्राप्त करनेके लिये ध्यानाभ्यासकी जरूरी है और ध्यानाभ्यासके लिये प्राणापानकी समानताकी जरूरी है। यह अभ्यास पातंजल योगदर्शनमें अधिक विस्तृत मिलेगा। यहां उसका संक्षेपसे निर्देश कर दिया है। 'अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते' और 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' ये दो सूत्र तो बिलकुल ही समान दिख पडते हैं। एवं ध्यान-धारणादि अभ्यास यहांका और योगदर्शनमेंका एक ही है।

प्राणायामके विषयमें योगीओंका एक सिद्धांत है कि 'चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्' मन और श्वास इनका घनिष्ठ संबंध है। एककी चलविचल दूसरे पर जरूर असर करती है। कामक्रोधादिकके आवेग समय देखा जाता है कि श्वास शीघ्र चलता है। उसके उलटा, पूजादि कर्म

निवृत्त मनुष्यका श्वास मंद और शांत चलता है। ऐसी स्थिति है तो एककी वशता दूसरे पर असर जरूरी करेगी ही। इस दृष्टिसे हमारे हरेक धर्मकृत्यमें प्राणायामका प्रथम स्थान है। प्राणायाम सिवाय एक भी धर्मकर्म हमारा आगे चलता नहीं। प्राणायामका फल योगशास्त्रमें 'धारणासु च योग्यता मनसः' ऐसा दिया है।

प्राणायाम लौकिक मान्यतानुसार नाक, फेफड़ा इ० कोसे होनेवाली चीज नहीं है। प्राणायाम यह श्वासकी क्रिया जरूर है परंतु वह मुख्यत. ज्ञानतंतुपर काम करनेवाली वस्तु है। रुधिराभिसरण, श्वसन संस्था इनपर आपाततः वह काम कर जाता है। परंतु खास वह ज्ञानतंतूका व्यायाम है। नाक द्वार मात्र है जिससे श्वास खेंचा जाता, परंतु वहांकी कोईपण स्नायू उस क्रियामें उपयुक्त होती नहीं। यही प्राणायामका विशेष तरीका है जो प्रत्यक्ष ही शीखना पडता है। प्राणायामसे ज्ञानतंतू अत्यंत शांत और समधात बनते हैं जिसका परिणाम चित्तके शांतिमें होता है। इस शांतिका विनियोग आरमसंयम-योगात्मक अभ्यासमें किया जाता है। इस अभ्यास बलसे कर्म और सन्यासका आचरण करते करते योगी समदर्शी बन सकता है, और उस अभ्याससे वैसा ही होना चाहिये ऐसा गीताका कहना है।

इस अभ्यासके जरीयेसे योगी ध्यानाभ्यासमें प्रवेश

करेगा और उस ध्यानाभ्याससे फिर अंत:करणमें जो प्रसाद उत्पन्न होगा, जो आनंद उत्पन्न होगा उसीकोहि वह योगी हरेक सृष्टीमें देखा करेगा। 'समदृष्टित्व' उस अभ्यासबल से टिक सकेगा। अतः प्राणायाम और ध्यानका अभ्यास भगवान यहां सूचित करते हैं। इसके विशेष सिलसिलेवार वर्णनके लिये जिज्ञासूको योगशास्त्रमें उतरना होगा। यहां योगशास्त्रका सहारा बताया है इतना तो निश्चित है।

'एतेन योग: प्रत्युक्त:' इस ब्रह्मसूत्रपर श्री शंकराचार्यजी टीका करते समय यही प्रतिपादन करते हैं कि योग सिद्धांत, जो प्रकृति पुरुषात्मक द्वैत है वह यहां प्रत्युक्त यानी निराकृत कर दिया है न तु योगाभ्यास। अभ्यासके बारेमें कोई भी शास्त्रका, कोई भी आचार्यका योग प्रति विरोध नहीं बल्के उन्होंने तरीकेसे योगका ही पुरस्कार किया है।

इस दृष्टिसे, सृष्टिवर्णनके बारेमें सांख्यशास्त्र ,और अभ्यास वर्णनके बारेमें योगशास्त्र प्रधानतया गीतामें दिखाई देते हैं। इन शास्त्रोंका गीतापर विशेष असर मालुम होता है। तेरवे अध्यायमें सांख्यशास्त्रका कितना प्रभाव गीता उपर पडा है वह स्पष्ट होगा। और योगका प्रभाव यहां और षष्ट अध्यायमें स्पष्ट दिखेगा।

सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र इनकी पुराणता और शास्त्रोंके अपेक्षा अधिक हैं यह बात भी इससे सूचित होती है। न्याय

वैशेषिक दर्शनका पुरस्कार गीतामें विशेष मिलता नहीं। गीताका तत्वज्ञान सांख्यशास्त्रकी भाषामें हि चलता है। फक्त थोडासा फरक ईश्वरके बारेमें गीताने कर दिया और गीताका अलग तत्वज्ञान बन गया। गीता याने ईश्वर बराबर सांख्यशास्त्र ऐसा समीकरण अयुक्त न होगा।

साराश—सन्यास और कर्म इन शब्दोसे दिशाभूल न होनी चाहिये। वे दोनो मार्ग एक ही उद्देश्यका लेकर चलते हैं। उनका अंत भी एक ही होता है। साधनावस्थामें भी दोनो परस्परावलंबी है दोनोंमें भी मनसे विषयत्याग अभिलक्षित है एकमे आत्मानात्म विवेक करते करते कर्मत्याग है, दूसरेमें ईश्वरार्पणबुद्धि प्रधानतया भासमान रहती है। जड कर्मत्याग तो दोनोमे भी व्यर्थ माना है। अतः निःसंगता कर्मकी निर्लेपता यह दोनोंका उद्देश एकहि होनेके कारण दोनो मार्ग एकहि है यह सिद्ध किया है। अत अर्जुनका शुरु का प्रश्न असमंजस था यह उसको पता लगा और फिर आगेके अध्यायोंमें उसने सन्यास और कर्म इनके तुलनात्मक तथा श्रेष्ठाश्रेष्ठताके बारेमें कभी फिर प्रश्नहि उठाया नहीं

*

अध्याय ६

— अभ्यास —

गताध्यायमें सांख्य मार्ग और योगमार्ग वास्तविक एक ही है यह सिद्धांत ठीक प्रतिपादन किया। उसीको ही इस अध्यायके प्रारंभमें और भी दुहराते है। इसमें भगवानका भावार्थ स्पष्ट होता है " अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: " स सन्यासी च योगी च" " यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव" इत्यादि श्लोक उपरोक्त कथनकोहि स्पष्ट बता देते हैं।

ऐसा संन्यासी वा योगी अपना अलग पद्धतीका अभ्यासक्रम करते हुअे " समलोष्टाश्मकांचन: " बनते हैं। तब भगवान उसके उपर कृपा करते है। 'समलोष्टाश्म कांचन:' यह साधकावस्था ही है। ऐसी अवस्थावाले भक्तों पर भगवान कृपा करते हैं और 'ददामि बुद्धियोगं तं येन

मामुपयांति ते '। यह परिस्थिति है। अब ये दो प्रकारके साधक आत्मानात्म विवेक तथा ईश्वरार्पण बुद्धि इन पद्धति का अवलंब करते रहते हुये अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यह विवेक या यह बुद्धि स्थिर होनेके लिये कुछ ध्यानाभ्यासकी जरूरत रहती है और यह अभ्यासक्रम इस अध्यायमे बताते हैं।

उपरोक्त बुद्धि होनेके लिये मनोवृत्ति विषयोंसे परावृत्त होना चाहिये। जब तक वे वृत्तियां दौडधाम करती हैं तब तक शांति मिलना मुश्किल है। और बुद्धि स्थिर होना असंभव ही है। जिस सुखके लिये मन बाहेर दौडता है, वह सुख यदि अंदर ही मिल जाय तो मन बाहेर जाना बंद करेगा। यह स्वभाविक है। इस दृष्टिसे ही वृत्ति निरोधके लिये ध्यानाभ्यास बताया है। ध्यानके अभ्याससे मनुष्य अंदर देखने लगेगा और ऐसा देखते देखते एक एक दिव्य विषयका भोग जो अंदर मिल जाय तो फिर मन बाहेर जाना बंद करेगा। वह उसका बाहेर जाना जैसा जैसा बंद होते रहेगा, वैसा वैसा अंदरका सुख बढता जायेगा। 'सुखमात्यंतिकं यत्तद्' ऐसा सुख उसको मिलता है जिससे उस का मन खूब स्थिर होता है जिसको 'यथादीपो निवातस्था नेंगते सोपमा स्मृता' यह दृष्टांत दिया है। यह आनंद जिसने पाया है यह 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' ऐसा अंतर्मुखवृत्तिवाला योगी 'ब्रह्मसस्पर्शम्' सुखका अनुभव

लेता है। यह सर्व भूतोंमें ब्रह्मदर्शन करता है, मुझे सब भूत मात्रोंमें देखकर हरेक भूतमात्रमें मेरा भजन करता है। ऐसे भगवान कहते हैं। और ऐसा योगी 'परमो मत.'।

पर यह ध्यानाभ्यास दृढ करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ये दो वस्तुकी खास जरुर है। आहार विहारका संयम करके, जिससे धातुसाम्य न बिगडेगा ऐसा आहार सेवन करके और मनकी सात्विकता बिगडेगी नहीं ऐसा विहार रखकर साधकने एकांतमें एक विशिष्ट आसन पर 'समंकाय शिरोग्रिव' शरीर धारण करके, ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। प्रथम मन दौडा करेगा परंतु अधिक समय के अभ्याससे वह आस्ते आस्ते स्थिर होता जायेगा। इसे स्थिर करनेकी कलाको एक दफे साधकने हस्तगत कर लिया तो फिर उस साधकको विशेष आनंद लाभ होता है।

इस प्रकार अभ्याससे श्रेयःसाधक अपनी बुद्धि थोडी स्थिर करके उपस्थित कर्म करता रहे तो भी उसे कर्मके प्रति फिर घृणा न रहेगी। उसे कर्मसे नफरत न रहेगी। ध्यानाभ्यासके बलसे वह साधक हरेक वस्तुमें ईश्वरदर्शन ही करते रहेगा। सांख्यवाला साधक हो, तो आत्मानात्म: प्रकृति पुरुष विवेक ही हरेक वस्तुमें उसे प्रतीत होगा जिससे उसको रागद्वेष न रहेगा। और रागद्वेष न रहना यही उद्दिष्ट है।

ऐसा अभ्यासु साधक कभी भी कुगतिको जायेगा नहीं

ऐसी भगवान साक्षी देते हैं। साधक ऐहिक सुखका त्याग करके इस दिव्य सुखके पीछे पडता है और यदि मध्यमें ही उसका अंत हो जाय तो यहांका यानी इस लोकका आनंद तो उसने जान बुझकर फेंक दिया रहता है अतः उससे वंचित तो हुआ ही है परंतु परलोक सुख जो अभीतक उसके हाथमें नहीं आया उससें भी वंचित होगा। ऐसी शंका स्वाभाविक है। परंतु भगवान कहते हैं 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते'। उस साधकका कभी भी बुरा हाल होनेवाला नहीं। बीचमें अगर उसका अंत हो तो फिर दूसरे जन्ममें वह उसी अभ्यासको पुरा करता है। उसका किया हुआ अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता। ऐसा इस अभ्यासका प्रभाव है। 'तस्माद्योगी भवार्जुन' ऐसा भगवानका अर्जुन प्रति उपदेश है। यहां भी योगीकी व्याख्या जो निःश्रेयस प्राप्त करनेके लिये संन्यास या कर्म इनमेसे कोई भी मार्गसे जानेवाला साधक यह ही अभिप्रेत है। और उन योगीओंमें जो 'मद्गतेनांतरात्मना' 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमा मतः' इसीसे संन्यासी तथा कर्मयोगी इन्होंका 'सर्वत्र समदर्शन' भगवान चाहते हैं। संन्यासी हो चाहे कर्मयोगी हो अगर उनमें समदर्शित्व न हो तो वह सन्यासी भी 'नहीं' और योगी भी नहीं। सन्यास या योग इनका उद्दिष्ट तो 'शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयो' 'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धि विशिष्यते' यहि चाहिये। इसीसे भी पता चलता है कि

संन्यास और योग एक दृष्टिसे एक ही है। गताध्यायका सिद्धांत ही यहां दृढ किया है।

अब ये हो संन्यासी, योगी इ० शद्व आगेके अध्यायमें भक्त इस अर्थमें आवेंगे। कर्मयोगके जगह भक्तियोग शद्व आवेगा। 'सन्यासेनाधि गच्छति' यहां पर 'योगबलेन चैव' और आगे जाकर 'मत्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' ऐसा प्रयोग मिलेगा।

अनेक लोग कहते हैं कि गीतामें ज्ञान, कर्म, भक्ति ऐसे तीन मार्गका कथन है। कोई संन्यासमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग इनका व्याख्यान बताते हैं। कोई पातंजल योगका मार्ग बताते हैं। लो. तिलकजी सामाजिक कर्मोंके तथा देशभक्तिके पक्षपाती बनकर प्राचीन आचार्योंके सिद्धांतपर प्रहार करते हैं।

वास्तविक ये सब भिन्न मार्ग हैं ही नहीं। एक मार्ग-अध्यात्म मार्ग है जिसका उपरोक्त विभिन्न नाम है। गीताका मुख्य कटाक्ष सर्व भूतोंमें एक ब्रह्मदर्शन पर है। उस दृष्टिसे संन्यास, कर्म, भक्ति एक ही हो जाते हैं। जब हरेक वस्तुमें ब्रह्मदर्शन करके ईश्वरोपासना करनेको गीता कहती है, तब समाजभक्ति तथा देशभक्ति भी उस अध्यात्म मार्गकाही दूसरा नाम बन जाता है। अतः समाजभक्ति तथा देशभक्ति इससे कुछ व्याघात नहीं होता। समाज यह भी ईश्वरका सरूप है, देश यह भी ईश्वरका स्वरूप है। इसीको-ही साधिभूत भगवानका स्वरूप, साधिभूत ब्रह्मका ज्ञान कहते हैं। ऐसा

साधिभूत ब्रह्मकी उपासना करनेवाला व्यक्तोपासक कहा गया है। उसीको ही अपरब्रह्मोपासक कहते हैं। उनके व्यतिरिक्त उपासकको, अव्यक्तोपासक, अक्षरोपासक कहते हैं। इस विषयका खुलासेवार वर्णन अब सातवें अध्यायमें भगवान करेंगे। जिसमें भगवान बतावेंगे कि जितनी सृष्टि मात्र है वह मेरी ही प्रकृति है, मेरा ही स्वरूप है। अतः उस सृष्टिरूप भगवानसे तिरस्कार कैसा हो सकेगा?। फिर समाज और देश उस सृष्टिके बाहर कहां हैं?

ऐसा जब है तब ज्ञान, कर्म, पातंजलयोग भक्ति—देवभक्ति, समाजभक्ति, देशभक्ति—ये सब ईश्वरका कहो, ब्रह्मका कहो, एक व्यक्त और अव्यक्त ऐसा स्वरूप ही हैं। विराट स्वरूपका ही यह आविष्कार है। अतः उन सब स्वरूपोंमेंसे कोई भी एक स्वरूपका अवलंब यह वास्तवमें ब्रह्मोपासना ही है। यह जो जानता है वही असली जानता है यह गीताका खास सिद्धांत है।

卐

है। वही सिद्धांत यहां जरा फरक करके लिया गया है। सांख्य मतानुसार प्रकृति और पुरुष ये दो भिन्न तत्व जगदारंभक हैं। उसमें पुरुष अकर्ता साक्षी मात्र है और कर्तृत्वादि सर्वगुणसंपन्न केवल प्रकृति है यह दृश्य सृष्टि उस प्रकृतिका हि आविष्कार है। पर यह आविष्कारका प्रयोजन मात्र पुरुष के लिये अत; 'पुरुषस्योपभोगार्थं' यह प्रकृतिका प्रयत्न है।

इसीकोहि गीतामें 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च' ऐसी अष्टधा प्रकृति बताई है। पंच महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार इतने मिलकर अष्टधा प्रकृति होती है वही व्यष्टि तथा समष्टिका कारण द्रव्य है। इस जड सृष्टिमें ब्रह्मका जीव नामका चित्तत्त्व प्रविष्ट होकर संसार चलता है। इस जीवको सांख्य शास्त्रमें पुरुष कहते हैं और यहां जीव कहते हैं। इस त्रिलोकमें कीडीसे लेकर ब्रह्मदेव तक ऐसा एक भी दृष्ट पदार्थ नहीं जो अष्टधा प्रकृति और जीव संज्ञक तत्त्व इनसे रहित न हो। ब्रह्मदेव बडा और उन्नत जीव, कीडी छोटा और अनुन्नत जीव। परंतु दोनों ही जीव ही हैं। अत: अखिल सृष्टि जीवरूपी अंशसे भरी होनेके कारण ब्रह्ममें स्थित है ऐसा कहना यथार्थही है। और इसीसे भगवान कहते हैं जो जो वस्तुजात, हे अर्जुन तुम देखते हो उस समस्त वस्तुजातमें मेरा अस्तित्व है ही। मेरा जीव तत्त्व उसमें होनेके कारण ही वह वस्तु अस्तित्वमें आ सकती है अत. सर्व पदार्थ मेरेमें 'सूत्रे मणिगणा इव' भरे

हुवे हैं। अप्सु यानी जलमें मैं रस हूं, सूर्य चंद्रमें मैं प्रभारूपसे हूं। अगर सूर्य चंद्रमेंसें प्रकाश बाद कर दिया जाय तो सूर्य चंद्र क्या वस्तु रहेगी? अतः सूर्यका सूर्यत्व और चंद्रका चद्रत्व जिस एक वस्तुपर अधिष्ठित है वह प्रभारुपी वस्तु यह भगवानका अंश है। वस्तुका अस्तित्व और उसकी शक्ति जिस एक वस्तुपर स्थित रहती है वह वस्तु अर्थात् उसका मूल है, उसका बीज है। उसके न होनेसे वह वस्तु नहीं होती है ऐसी वस्तु चिदंश व्यतिरिक्त क्या होगी? अत. भगवान कहते हैं हरेक वस्तुमें मेरा अस्तित्व उसके प्रभावरुपसे दिखाई देता है। 'मत्त एवेति तान्विद्धि' परंतु अज्ञजन इस बातको समजते नहीं और भिन्न भिन्न देवताओंको मान बैठा हैं।

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' त्रिगुणात्मिका मेरी मायाके प्रभावसे अज्ञ लोग मेरा सर्वव्यापित्व ठीक नही समजते। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' वे लोग मेरी मायाको पार कर लेते हैं और विज्ञान सहित यह मेरा ज्ञान प्राप्त कर लेते है। वस्तुतः मेरे सिवाय अन्य देवता इस संसारमे है ही नहीं। परन्तु अज्ञजन भिन्न देवता मानकर इसकी कामना सहित उपासना करते हैं तब वस्तुतः मैं ही उस उपासकको उसका ईप्सित देता हूं परन्तु वह मानता है कि फलाने देवताने यह फल मुझे दिया। 'मैं ही हे अर्जुन,' भगवान कहते हैं, 'सब कर्मो

का फलदाता हूं। मैं ही सब देवताओंमें घुस कर उनको धारण करता हूं। जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा मैं बन जाता हूं। परन्तु वस्तुतः मेरा स्वरूप उन सबसे भिन्न है यह जो जानता है वह मुझे अति प्रिय है। 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं मह स च मम प्रियः' चित और अचित सृष्टिका ज्ञान एक वाक्यमें कहते हैं 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय' यह जानकर जो मेरे भूमा स्वरूप जो चिदचित व्यतिरिक्त है उसका ज्ञान कर लेता है 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नं'। ऐसे महात्मा बहुत विरल होते हैं 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' इसी लिये ऐसे ज्ञान की महत्ता है।

अपरधा प्रकृति, जीवभूता प्रकृति, इनके सहित जो ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान कर लेता है वह सम्यक् जाननेवाला है 'ते विदुर्युक्तचेतसः'। इस पर अर्जुन शंका उठाता है, साधिदैव, साधिभूत, साधियज्ञ, साधिदेह ऐसा आपका ज्ञान कैसा हो सकता है? देव, भूत, यज्ञ, देह यह सब प्रकृतिके स्थित्यन्तर हैं। अतः उसके अन्दर बैठे हुवे गुप्त तत्त्वको लेकर इन सब प्रकृतिका ज्ञान कैसा करलूं यह प्रश्न है। उसका उत्तर अग्रिम अध्यायमें भगवान् देंगे। और उसके साथहि मरणोत्तर गती का भी प्रवचन करेंगे। साधिभूताधिदैवं जो मुझे जानता है वह उत्तम गतीको प्राप्त कर लेता है ऐसा भगवानने इस अध्यायके अंतमें कह दिया है। उससे स्वभावतः दो प्रश्न

प्रस्तुत होते हैं। एक अधिभूत, अधिदैव यह क्या वस्तु है? उसके सहित ईश्वरको जानना यानी क्या? दुसरा वह जाननेवाला मनुष्य जो उत्तम गतिप्रत, मरणके बाद जाता है तो उससे अतिरिक्त मनुष्य कौन गतिप्रत जाते हैं अतः मरणोत्तर गतिका वर्णन प्रासंगिक ही है। उसके लिये अग्रिम अध्याय है।

अध्याय ८

— दो उत्क्रान्ति —

गताध्यायमें 'साधिभूताधिदैवं मां' इत्यादि वचनोंसे तदात्मक भगवानको जानना चाहिये और वैसा जो जानता है वही सम्यक् जानता है और वह उत्तम गती प्राप्त करता है ऐसा वर्णन हो गया। यहां उस साधिभूतता, साधियज्ञता इत्यादि शब्दोंका विशेष विचार करते हैं।

अधिभूत यानी भूतों संबंधी और भूतोंका अधिष्ठाता, अधियज्ञ यानी यज्ञ संबंधी यज्ञका अधिष्ठाता, अधिदेह यानी

देह संबंधी और उसका अधिष्ठाता। इन सबके संबंधी तथा सबमेंके अधिष्ठाताका ज्ञान सहित जो ज्ञान है उसको साधिभूत, साधियज्ञ, साधिदैव ज्ञान कहते हैं। उस ज्ञानके साथ जो ब्रह्मको जानता है उसको साधिभूत, साधिदैव ब्रह्मज्ञान कहते हैं।

अब देखना है कि भूत यह क्या वस्तु है?

यज्ञ तथा देह तथा देवता यह क्या वस्तु है?

गताध्यायमें देख चुके हैं इन सबको ब्रह्मव्यतिरिक्त अस्तित्व है ही नहीं। भूत या यज्ञ या देवता ये सब तब तब तक हैं जब तक उन्हें ब्रह्मकी सत्ताका अधिष्ठान है। वह यदि निकल जाय तो ये वस्तु भासमान ही न होंगे। ऐसी स्थिति होनेके कारण पंचमहाभूतोंमें ब्रह्मकी ही सत्ता है, देवताओंमें भी ब्रह्मकी ही सत्ता है और यज्ञोंमें भी ब्रह्मकी ही सत्ता है यह सिद्ध हो गया। तब पंचमहाभूतोंकी बनी हुई वस्तु जैसी नदी, वृक्ष, पर्वतादिसे मनुष्य, देव इत्यादि देह तक उन वस्तुकी उपासना करनेसे क्या अर्थ? देवता जैसे अग्नि, वरुण, इंद्र इत्यादि अगर वे स्वसत्ताशील जो नहीं हैं और उनमेंसे एक ही ब्रह्मसत्ता कार्यकारी है तो फिर उन देवताओंकी आराधना किस लिये करे? ऐसा विवेक उत्पन्न होना यह ही साधिभूताधिदैव ज्ञानका फल है। इसी लिये भगवान् कहते हैं जो मुझे ऐसे प्रकारसे साधिभूताधिदैव जानेगा वह फिर विभ्रतात्मक मोह नहीं पायेगा।

भौतिकदृष्टि, दैविकदृष्टि इन्होंके सहित ब्रह्मका ज्ञान कैसा हो सकता इसका प्रकार बता कर अब ऐसा ज्ञानवाला मनुष्य अंतकालमें कभी व्यामोह पाता नहीं और उत्तम गतिसे ही जाता है ऐसा वर्णन आगे करते हैं।

सामान्यतः 'अंते मतिः सा गतिः' ऐसा नियम है। सब जिंदगीभर दुनियाके व्यवहार ही करते रहे और मरण समय पर भगवानका स्मरण रहे ऐसी घटना बनना असंभव है। जिस भावनाका जन्मभर अभ्यास रहेगा, ध्यास रहेगा उसका ही स्मरण अंतकालमें बना रहेगा। इसी लिये भगवान् कहते हैं कि जन्मभर मेरा ही स्मरण रखा करो। साधिभूत मेरा स्मरण करो, साधिदैव मुझे चिंतन करो, साधियज्ञ मैं हूं यह भाव ठीक रखो। इससे एक बात होगी कि साधक का मन तदाकार बन जायगा। ऐसा साधियज्ञ देवभूत ज्ञान सहित मेरे ज्ञानमें जो स्थिर होगा वह 'यः मयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।

इतनी स्थिति जिसकी स्थिर नहीं वह मनुष्य जो अंतकालमें भाव रखेगा उसीप्रन वह जायगा। 'तं तमेवेति कौंतेय सदा तद्भावभावितः। इसी लिये सदैव मेरा हि ध्यास रखा करो ऐसा भगवान् उपदेश करते हैं। ऐसा सिद्ध पुरुष अंतकालमें अपना प्राण कैसा छोडता है उसका वर्णन 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्' 'सर्वद्वाराणि संयम्य' 'ओमित्ये-

कायरं ब्रह्म व्याहरन्' इत्यादि वचनोंसे करके ऐसा जो उत्क्रांत होगा वह साधक 'स याति परमां गतिं' ऐसा कहा है। 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इससे [भक्तिकी श्रेष्ठता तथा आवश्यकता भी बताई है। ज्ञान, विज्ञान और साथ अनन्य भक्ति यह चाहिये ऐसा भावार्थ।]

अब मरणोत्तर दो गतीको बतलाते हैं। एकसे फिर संसारमें आता है और दुसरेसे आता नहीं। एकको चंद्रमार्ग-धूममार्ग अत: कृष्णमार्ग कहते हैं जिससे योगी पुनः ससारमें आता है। दूसरेको सूर्यमार्ग-अर्चिमार्ग-शुक्लमार्ग कहते हैं जिससे योगी पुन: संसारवश नहीं होता।

उपनिषदोंमें इसका वर्णन आया है और वहां पुण्यशोलों के दो मार्ग और पापीओंके अेक मार्ग ऐसे तीन मार्ग बताये हैं। अर्चिरादि तथा धूममार्ग ये सत्कर्मकारीओंके लिये है और जो पापी हैं उनके लिये 'ज्यायस्व म्रियस्वेति तृतीय पंथा' ऐसा वर्णन आता है। ब्रह्मोपासक-अर्थात् सगुण ब्रह्मोपासकः= अर्चिरादिमार्गेण सूर्यनाऽया ब्रह्मलोकं गच्छति। इष्टापूर्तकारी धूममार्गेण चंद्रनाऽया चंद्रलोकं गत्वा क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥ इष्टापूर्त यानी लोकोपयोगी काम। जैसे कूप, तडागधर्मशालादि बांधना इत्यादि। तीसरा, पापीओंके मार्ग का विचार, कर्तव्य ही नहीं। अब उपरोक्त धूम और अर्चिः मार्गके बारेमें अनेक विद्वानोंमें मतभेद है। पूर्वाचार्य, उन

मार्गसे तत्तदाभिमानी देवता मानते हैं। शंकराचार्यादि किंवा बादरायणाचार्य भी 'आतिवाहिकास्तल्लिंगात्' इस सूत्रसे तन्मार्गाभिमानी देवता ही मानते हैं। परन्तु गीताका कहना तो ऐसा दिखता है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष उत्तरायण-शुक्लपक्ष-दिवसमें हि उत्क्रांत होना चाहिये। भीष्म पितामहको इसी लिये उत्तरायणकी मार्गप्रतीक्षा करनी पडी थी।

लोकमान्य तिलकजी कहते हैं कि यह बात एक ऐतिहासिक सत्यको बताती है। अनेक सहस्रवर्ष पहेले आर्य उत्तरध्रुवमें रहते थे। वहां षाण्मासिक रात्र और षाण्मासिक दिवस होता है। सामान्यतः दिवसमें मरना उस वख्त उत्तम माना जाता था। वह ही भावना लेकर आर्य जब भारत-वर्षमें आये तब भी, वही प्राचीन मूलस्थानकी भावना रखते हुवे मरण कालके ओर देखते रहे। इसका प्रत्यतर गीताका मार्ग-निर्देशमें आता है। अब दुनियामें बहुतसे ब्रह्मज्ञानी कृष्ण पक्ष दक्षिणायन रात्रमें भी मरे हैं। अतः प्राचीनाचार्योंने उस पर देवता कल्पना कर ली। यद्यपि कृष्णपक्षमें ब्रह्मज्ञानी मरा तब भी उस वख्त शुक्लपक्षाभिमानी देवता उसका स्वीकार कर लेती है और उसे अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोक ले जाती है। इसी दृष्टीसे यद्यपि अज्ञानी पुरुष शुक्लपक्ष-उत्तरायण दिवसमें मृत हुआ तब भी उसके आचरणानुसार उस समय कृष्णपक्षाभिमानी देवता उसका स्वीकार कर लेती है और उसे धूममार्गसे लेकर चंद्रलोक ले जाती है। श्री तिलकजी

को भी देवता मानना पडा तो है परन्तु साथ उन्होंने ऐतिहासिक उपपत्ति विशेष समालोचनीय देनेके कारण विषयपर प्रकाश अधिक पडा।

यहां निर्गुण ब्रह्मोपासनावालोंको, जीवन्मुक्ति माननेवालों को जैसे श्रीशंकराचार्यजीको जरा अडचण आती है। क्योंकि उनके मतानुसार ब्रह्मज्ञानी पुरुषको कुछ कर्तव्य रहता ही नहीं। मरणोत्तर अमुक गतीसे जाना यह आग्रह भी उसके पास रहता नहीं अत: उसको अमुक गतीसे जाना चाहिये यह मानना उचित नहीं। इसी लिये यहां ब्रह्मोपासक यह शब्दका अर्थ वे लोग सगुण ब्रह्मोपासक, कार्य ब्रह्मोपासक ऐसा करते हैं। ऐसे उपासकक्रम मुक्तिवाले होते हैं। वे अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोक तक जाते हैं, यहां रूक जाते हैं और जब सब ब्रह्मलोकको मुक्ति होती है तब साथ इनको भी मुक्ति मिलती है।

परन्तु सद्योमुक्तिवाले पुरुषको अर्चिरादि मार्गकी कुछ जरूर नहीं। उनके सब कर्म खलास होते हैं, उनको कुछ मार्गका अवलंब करनेकी जरूरत ही नहीं। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'। वे लोगोंके प्राण कहीं जाते नहीं आते नही। यहांके यहां हि उनके प्राण ब्रह्ममें विलीन होते है। वे भी अपनी चित्कला ब्रह्ममें विलीन कर देते है। अत: उनके लिये कुछ जाना-आनादि व्यापार किंवा

पारलौकिक इष्टानिष्ट कर्मकी जरूरत ही नहीं। उनका सब कुछ यहां ही ब्रह्मके साथ मिलन होता है। वास्तविक मिलन होना यह भाषा भी ठीक नहीं। वे ब्रह्म ही थे, ब्रह्म ही हो जाते हैं परन्तु लौकिक दृष्टिसे यह कहा जाता है। यह विषय अब नवमाध्यायमें विशेष कहेंगे।

इस अध्यायमें साधिभूताधिदैवं ब्रह्मका ज्ञान करके जन्मभर उस ब्रह्मका चिंतन करना यही अंतिमकालमें उत्तम गति देनेवाला है यह बात सिद्ध करदी गयी। परन्तु गीता के उपरोक्त अर्चिरादि मार्ग विषयक पंक्तिसे ऐसा ख्याल तो जरूर आता है कि गीताकालीन संप्रदाय ब्रह्मज्ञानीका मरना अर्चिरादि कालमें ही होना चाहिये ऐसा मानते थे। इसका अनुवाद गीताने दो मार्गरूपसे किया। परन्तु जीवनमुक्तके बारेमें स्वतत्र बयान गीता चाहती थी। अतः नवम अध्याय प्रवृत्त होता है। उसमें ब्रह्मज्ञानी पुरुषके लिये-जीवनमुक्तके लिये ये दोनों मार्गकी कुछ जरूरी नहीं यह बात भगवान बतावेंगे।

अध्याय ९.

— राजगुह्य —

सातवे अध्यायमें जो विषय शुरु हुआ वह ही अब इस अध्यायमें आगे बढाते हैं। [बीचमें अधिभूत इत्यादि शब्द आनेसे उनका स्पष्टीकरण करनेके लिये आठवा अध्याय प्रवृत्त हुआ।] उसमें ही प्रसंगात् उत्पन्न हुई मरणोत्तर गती का भी वर्णन आ चुका। कारण साधिभूताधिदैवं मां...प्रयाण-कालेऽपि च मां...ऐसा उल्लेख आनेके कारण अधिभूत अधि-दैव इत्यादि प्रश्न तथा मरणोत्तर गति यह विषय अनिवार्य थे। उसका वर्णन निपटाकर अब सातवे अध्यायमे जो विषय चलाया 'मत्तः परतरं नान्यत्' 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इत्यात्मक उसीको हि इस अध्यायमें बढाते हैं।

भगवान कहते हैं कि यह सब आ ब्रह्म स्तंभपर्यंत सृष्टि मेरेमे ही है और दूसरी दृष्टिसे मेरेमे नहीं भी। मैं सब सृष्टि का आधार होते हुवे भी मैं सृष्टिमें नहीं हूं ऐसा परस्पर विरुद्ध वचनसें अर्थ व्याघात होता है इसी लिये उसका सु-संगत वर्णन करनेके लिये नवम अध्याय प्रवृत्त हुआ है। आकाश यह तत्त्व घर, जंगल, वन, उद्यान, शहर इन सबमें व्याप्त है। 'आकाशोऽवकाश दानात्'। अगर आकाश न

होता तो परस्पर विभक्त सृष्टि न रहती। मनुष्य एक कदम आगे हलचल कर सकता है यह वस्तु आकाश न होती तो न बन सकती। अतः अपने सब कर्मके लिये, सब जीवनके लिये आकाशकी आवश्यकता, उसका अधिष्ठान अत्यावश्यक है। आकाश पर ही हमारी स्थिति है, आकाश न होनेसे नहीं है। अब आकाशके ओरसे देखिये। आकाशको तो पता भी न होगा कि मेरेमें आदमी हलचल करते हैं, मेरेमें गमनागमन करनेवाली चीजें हैं। दुसरा दृष्टांत लीजिये। सूर्योदय होनेसे पृथ्वीपर जीव सृष्टि उल्हसित होती है, वनस्पती तथा जीव परिवर्धित होते हैं। लोग कहते हैं अंधकार नष्ट हुआ, रात चली गयी और दिन उगा। पर सूर्य के ओरसे देखिये तो सूर्यके घरमें अंधकार, वनस्पती, जीव इत्यादि शब्द है ही नहीं। सूर्यलोक पर कल्पना करो, कोई मनुष्य गया और रात्र और दिवसकी बात करने लगा तो उसका अर्थ ही वहां होगा नहीं। कारण रात और दिन ये यहांके सापेक्ष शब्द है। सूर्यको उन शब्दके अर्थका पता ही नहीं। परन्तु यहांके शब्द सूर्यपर अधिष्ठित जरूर हैं।

इस दृष्टांतसे पता चलेगा कि भगवान जो कहते हैं कि ब्रह्ममें सब सृष्टि है, उससे ही यह सृष्टि चलती है। परन्तु ब्रह्मको पता भी नहीं कि मेरेपर सृष्टि स्थित है। उसके कोशमें सृष्टि, प्रकृति पुरुष, जीव इत्यादि शब्दोंका पूरा अभाव ही है। ये सब शब्द यहांके यानी प्रकृति सर्जनके वाचक हैं।

वे सब सापेक्ष हैं। प्रकृतिका ससार है इसी लिये इन जीव, पुरुष, बुद्धि, भूत इत्यादि शब्दोंका अर्थ है। परन्तु एक ही एक जब ब्रह्मतत्त्वकी दृष्टि होती है तब यह सब रहता नहीं। इसी लिये भगवान कहते हैं कि मेरेमें सब सृष्टि स्थित है और नहीं भी। मेरे साक्षीत्वसे जैसा आकाशमें वायु संस्थित है वैसा हि यह ससार मेरेमें समजा यह ज्ञान अत्यत श्रेष्ठ ज्ञान है। इस ज्ञानसे भेद दृष्टि मिट जाती है। जब एक ही एक ब्रह्मतत्त्व है और अपरा प्रकृति तथा जीव प्रकृति उसके उपरके तरग है, उनको स्वतत्र अस्तित्व नही है, तब यज्ञ-यागादि, देव-देवतादि, स्वर्ग-नरकादि भी एक प्रकारकी कल्पना हो बन गयी। सत्यतया यह सृष्टि है ही नहीं। ऐसा जब है तब यज्ञादि, देवतार्चनादि किस लिये करना? अर्थात् उपरोक्त ज्ञानवाले मनुष्यमें भिन्न देवतार्चनादि कल्पना आवेगी ही नहीं यह एकमेव ब्रह्मकी ही हरेक वस्तुमें उपासना करेगा। जा जा दृश्यमान् पदार्थ हैं उसमें ब्रह्मका दर्शन करते हुवे ब्रह्मकी हो सत्ता देखते हुवे स्थिरचर वस्तुमें ईश्वरोपासना करते रहेगा। 'सतत कीर्तयतो मां' 'नित्ययुक्ता उपासते' 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्' ऐसे वे ज्ञानीलोक, भगवान कहते हैं, मुझे भजते हैं। अह यज्ञ स्वधाहमहमौषधम् एसी उनकी पूरी खात्री होनेके कारण वे भिन्न देवताओंका अस्तित्व मानते ही नहीं, रामकृष्णादि ईश्वरावतार भी वे ब्रह्म ही समजते हैं। ब्रह्मकी दृष्टिसे अवतार यह शब्द अनुत्पन्न

है। ब्रह्मको पता भी न होगा कि मेरे रामकृष्णादि अवतार हुवे। परन्तु अज्ञजन उसको रामकृष्णावतार समझकर मनुष्य रूप मानते हैं यही माया है। उनमें परब्रह्म ही वे देखते हैं यह ब्रह्म सत्यतया कभी विकृत होता ही नहीं। परन्तु मूढ जन-अज्ञानी जन 'अव जानंति मां मानुषीं तनुमाश्रितम्'। वास्तविक मेरे अवतार हुवे भी नहीं और होनेवाले भी नहीं।

ऐसा जानकर जो भजन करता है वह हि उत्तमोत्तम भक्त है ऐसा गीताका कहना है, यह पराभक्ति है-यही परा कोटिका ज्ञान है। यह ज्ञान जिसको होगा वह उसी वख्त कृतार्थ हो जाता है। उसे और कुछ कर्तव्य रहता नहीं। अत: आठवें अध्यायमें कही हुवी मरणोत्तरा गतिका भी उसे ख्याल रखनेकी जरूरत नहीं। वह यहांसे हि जीवनमुक्त हो गया। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।

इस असली ज्ञानका अधिकारी स्त्री, शूद्र कोई भी हो सकता है। परन्तु आत्यंतिक भगवत् शरणागती यह इस मार्ग का मुख्य साधन है। 'उस शरणागतीका अवलंब जिसको आ गया उसको सब कुछ आ गया ऐसा गीताका कहना है 'स्त्रीयो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्' इतनी इस मार्गकी श्रेष्ठता है। तब यदि ब्राह्मण जो इस मार्गमें पटे तो वे त्वरित कृतार्थ हो जायेंगे उसमें क्या शंका है? 'किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या' ऐसा गीता सवाल करती है। और आरंभ

कहती है 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामे-वैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥' इस श्रेष्ठ मार्गको-जो कि अर्चिरादि तथा धूम मार्गसे अत्यन्त भिन्न है-राजविद्या राजगुह्य कहते हैं। अति रहस्यवाली यह वस्तु होनेके कारण राजगुह्य कह सकते हैं। 'गुह्यानाम् राजा राजगुह्यम्'। परन्तु राजविद्या कहनेका मतलब और भी है। विद्याका राजा राज-विद्या ऐसा हो सकता है परन्तु इसका अनुसंधान छांदोग्य और बृहदारण्यकोपनिषद्में है। यह श्रेष्ठ ऐसा साधिभूताधि-दैव ब्रह्मज्ञान प्रथम, क्षत्रियोंमें था। श्वेतकेतु जैवाली राजाके पास जाता है और वह इस ज्ञानके बारेमें पूछता है। जैवाली बहुत खुशी होकर कहता है कि अभी तक यह ब्रह्मविद्या राजाओंमें थी अब ब्राह्मणोंमें जाती है। अतः क्षत्रीय राजा आमें यह ब्रह्मविद्या होनेके कारण इसे राजविद्या कहा होगा।

सारांश—सब चराचर सृष्टि यह ब्रह्मातिरिक्त नहीं, जो जो उपासना हम भिन्न देवताओंकी करेंगे वह पर्यायसे एक ब्रह्मकी ही पहोंचती है। भिन्न देवताओंसे मिलनेवाला फल भी एक ब्रह्मसे हि मिलता है अतः 'एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' 'मया ततमिदं सर्वम्' इस सिद्धांतानुसार हरेक वस्तुमें ब्रह्मका परमेश्वरका दर्शन करना यह ही सच्चा ज्ञान है। इस ज्ञानका सेवन जिसने कर लिया वह चाहे शूद्र हो या चांडाल हो परागतिको प्राप्त कर लेता है। फिर द्विजो के बारेमें कहना ही क्या है? इस ज्ञानका ही राजविद्या

कहते हैं और ऐसा ज्ञानी अर्चिरादि तथा धूम गतिके पार रहता है उसको गमनागमनकी आवश्यकता रहती नहीं। वह यहां ही ब्रह्म हो चुका है। अत: उसके प्राणापान सब कुछ ब्रह्ममें यहां ही विलीन होते हैं, वह जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी ऐसा होता है इसी लिये श्री शंकराचार्यजीने शुक्ल कृष्ण गती उन सगुण ब्रह्मोपासकोंके लिये-क्रममुक्तिवालेके लिये माना है। और गीताका भी ऐसा हि ख्याल इस अध्यायको उद्धृत करनेसे दिख पडता है। इस ज्ञानका अधिकारी मनुष्य मात्र है यह भी एक गीताका विशेष है। यज्ञयागादि द्विजोंके लिये है। वहां शूद्रोंको अधिकार नहीं। अत: प्राचीन संप्रदाय पर गीताका यह एक प्रहार ही है। गीताने उन संकुचित दृष्टि को छोडकर मनुष्य मात्रके लिये ब्रह्मोपासना खुली कर दी है यह गीताका विशेष है। और उस दृष्टिसे अन्य शास्त्रो पर गीताका यह बडा विजय है।

अध्यात्मका मार्ग संकुचित नहीं। उसे प्राप्त करनेका अधिकार सर्व मनुष्य मात्रको है। यह जोरसे प्रतिपादन करने का प्रथम मान गीताको है। जैनोंके अंदर स्त्री मोक्षको नहीं पा सकती; बुद्धोंके अंदर भिक्षु सिवाय निर्वाणको अन्य नहीं जायेगा; संन्यास मार्गीओंमें संन्यासी ही मोक्षका अधिकारी हो सकता है. मीमांसकोंमें यज्ञाधिकारी द्विज ही स्वर्गकी सीडी चढ सकते हैं इत्यादि संकुचिततासे आगे जाकर गीताने सब मनुष्य मात्रको स्त्री हो या पुरुष हो; ब्राह्मण हो

या चांडाल हो सबको एक बडा राजमार्ग खुला कर दिया है। शुक्ल-कृष्ण गतीकी परवा नहीं। मात्र इस राजविद्याका अवलंब यथार्थ हो जाय तो वह यहां मुक्त हो जाता है। उसे और जाना न आना। यही गुह्यविद्या है जिसका आविष्कार करनेवाली गीता अध्यात्मशास्त्रोंमें प्रथम स्थान पाती है।

卐

अध्याय १०

— विभूति विस्तार —

'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्' 'असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते' सब चराचर सृष्टिमें ईश्वर व्यापा हुआ है, भक्तोंके अभीप्सित पूरे करनेके लिये अपना अव्यक्त स्वरूपसे यत्किंचित् भी चलित न होते हुअे अनेक अवतार वे धारण करते हैं। राम-कृष्णादि अनेक अवतार लेते हुअे भी वह ईश्वर अज और अनादि है। इसका तात्पर्य गताध्यायमें हो चुका है। अनेकविध रूपोंसे नटे हुअे ईश्वरको-ब्रह्मको—अज और अनादि देखना यही असली दर्शन है और यह जो जानता है वही सर्व पापसे निर्मुक्त होता है।

भगवानको इस विराट स्वरूपमें देखकर आकलन करने के लिये बुद्धि तो विराट चाहिये। परिमित इंद्रियसे परिमित हि ज्ञान होगा यह सामान्य नियम है। इसी लिये अर्जुन को शंका आयी कि भगवानका ऐसा भूमा स्वरुप, जो चराचरोंमें ठोंसकर भरा है उसका तादृश भी ज्ञान होना सामान्य इंद्रियोंके ताकदके बाहरकी वस्तु है। अतः पूछता है 'किन चीजोंमें, हे भगवन, तुम्हारी विभूति विशेष भासमान है और हमारे जैसे अल्पज्ञको कहां कहां तुमारा दर्शन पानेका संभव है वह कृपया बताइये'।

भगवान उसपर अपनी विभूतियां सिलसिलेवार कहते हैं। 'आदित्यानामहं विष्णुः' 'ज्योतिषां रविरंशुमान्' 'नक्षत्राणामहं शशी' इत्यादि। गत विचारसरणीके अनुसार अब इस विभूति-योगात्मक विषय पर देखना होगा। चराचरमें जो सत्ता है वह चराचरकी नहीं बल्के ब्रह्मकी सत्ता है यह सिद्धांत हो गया है। ब्रह्मके होनेसे ही यह चराचर सृष्टि है अन्यथा यह अस्तित्वमें रह ही नहीं सकती। ऐसा जो है, तो वस्तुका वस्तुत्व जो कि वह वस्तुका सर्वस्व है और उसके सिवाय उस वस्तुकी कीमत ही है नहीं, वह वस्तुत्व भगवान के अंश सिवाय और दुसरी क्या हो सकती है? सूर्य अखिल सृष्टिका प्राणदाता है परन्तु उसमेंसे तेज बाद करें तो वह सूर्य रहेगा ही नहीं। नक्षत्रोंसे मनुष्यको आनंद-आह्लाद होता है। और वह आह्लाद सबसे बढकर चंद्रसे होता है।

श्रांत मनको-क्षुब्ध मनको शांति देनेवाला चंद्रबिंब है। अतः चंद्रके उपर जितना आजतक काव्य हुआ उतना और चीज पर क्वचित ही हुआ होगा। यह आल्हाद चंद्रमेंसे बाद करें तो चंद्र अपने चंद्रपनसे नष्ट हो जायेगा। अतः सूर्यचंद्र इनमें उन रुपमें भगवानका ही आविर्भाव होता है ऐसा माननेमें अनुचित क्या होगा? सूर्यचंद्र इन वस्तुओंमें की प्राणदातृत्व, आल्हादत्व इन धर्मकी सत्ता ब्रह्मकी ही है यह विषय साधिभूत-साधिदैव-ज्ञान नामक गताध्यायमें चर्चित हो गया है।

'स्थावराणां हिमालयः' हिमालयकी विशालता और प्रचंडता जिसने देखा है उसको उपर्युक्त उक्ति यथार्थ ही प्रतीत होगी। विशालता और प्रचंडता इन धर्ममें हिमालय सबसे बढकर है। अतः वे उसका प्राणप्रद ऐसा विशिष्ट धर्म हैं। वे धर्म मनमेसे हटा दिया जाय तो हिमालय यह वस्तु कल्पनागम्य भी न होगी। जिसके होनेसे यह वस्तु होती है और जिसके न होनेसे यह वस्तु नहीं होती यह धर्म ईश्वरांश-ब्रह्मांश ही समजना चाहिये।

'गिरामस्म्येकमक्षरम्' अगर अक्षर न हो तो भाषा हो सकेगी? भाषामेंसे अक्षर हटा दो तो भाषा कहां रहेगी? अतः अक्षर यह भाषाके अंदर बैठकर भाषाको चलाता है; यह न होनेसे भाषा बनती नहीं। इसी लिये अक्षर यह भगवानकी विभूति बन गयी।

'अक्षराणामकारोऽस्मि' अक्षर, स्वर और व्यंजन मिलकर छत्तीस है। क इस अक्षरका उच्चार तबही हो सकता है कि जब उसमें अकार आवे। अकेला क का उच्चार हो ही नहीं सकता। अतः क वर्ग, च वर्ग इत्यादिकोको व्यंजन कहते हैं। अकारसे वे व्यजित होते हैं अतः व्यंजन। परन्तु 'अ' यह अक्षर स्वयंसिद्ध है। उसका उच्चार करनेके लिये और किसीकी आवश्यकता नहीं है। उसको स्वर कहते हैं। 'स्वयं राजते इति स्वरः'। किसीकी अपेक्षा सिवाय जो आवाज करता है वह स्वर। अतः अक्षरोंमें 'अकार' यह भगवानकी विभूति मान लिया यह उचित ही है। 'बलं बलवतामस्मि' बलवानोंका अस्तित्व वस्तुतः बलपर ही है। वह ही उनका केंद्र है। उसे छोडकर उनको बलवान यह शब्दप्रयोग भी न होगा। अत बलवानोंके अंदर बलरूपसे भगवानकीही विभूति है।

'वेदानां सामवेदोऽस्मि' वेदोंका सौंदर्य और श्रवण-माधुर्य सामवेद जिसने सुना है उसे कहनेकी जरुरी ही नहीं। 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' गंगाजीकी पवित्रता गंगा किनारेपर जानेसे ही पता चलता है। हरिद्वारमें गंगाका वैभव, उसकी रमणीयता यह तो केवल स्वानुभवगम्य ही वस्तु है। और सब नदीओंसे गंगामें कुछ और विशेष लगता है। गंगाका पानी रेक वर्षों तक रखिये बिगडता नहीं। अनेक घरोंमें गंगाजल वर्षोंसे भरा हुआ रहता है। सायंकाल या प्रातःकालमें गंगाके घाटपरकी रमणियता कुछ और ही है। पावित्र्य

मूर्तिमान यहां प्रतीत होता है। 'आपो वै श्रद्धा' यह गंगाके बारेमें सार्थ वचन है। अत: गंगाको ईश्वरकी विभूति मानना इसमें क्या अनुचित है?।

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' जपयज्ञ यह श्रेष्ठ यज्ञ है। 'तज्जप स्तदर्थभावनम्' यह उसका सूत्र है। जपके साथ जपकी अर्थ भावना होनी चाहिये। जपाक्षर यह स्मरण करानेवाला माना है। उससे अगर जपवाच्य वस्तु स्मरण न होगी तो वह जप नहीं सा ही कहा जाता है।

श्री चैतन्यदेवको कोई वृंदावन नाम श्रवण पर पडे तो एकदम श्रीकृष्णलीला स्मृत हो जाती थी और वे भावमग्न हो जाते थे। 'दंडकारण्य' यह शब्द सुनते ही गोस्वामी तुलसीदासजीका गला गलगलीत हो जाता था। यह स्मरणजप कहाता है अत और अन्य यज्ञसे, इस ख्यालसे, जपका महत्व अतिशय है। यह साक्षात् समाधिकी भावनाको लाता है। अत: यह जपयज्ञ भगवानका स्वरूप मान लिया। अन्य यज्ञोंमें जो झटसे नहीं मिलता वह चीज यहां मिलती है। दूसरे यज्ञ बाह्यांग प्रधान जादह होते है। और यह अंतरंग प्रधान विशेष है।

इस दृष्टीसे इस अध्यायमें आयी हुई अनेक विभूतियों पर विचार करना चाहिये। ऐसी दृष्टि जो रखा जाय तो जो जो विभूति भगवानने इस अध्यायमें बतायी है उसमें

स्वारस्य और खास औचित्य है ऐसा जरूर प्रतीत होगा। इस दृष्टिसे ही इस दशमाध्यायको पढना चाहिये।

इस चराचर सृष्टिकी गिनती कौन कर सकेगा? इस सृष्टिमें लाखों करोडों व्यक्तियां हैं। उन सबमें भगवानका तत्त्व कुछ न कुछ रूपसे हैं ही। उन सबका वर्णन करना मनुष्य शक्तिके बाहरका काम है। अतः भगवान कहते हैं कि मेरी विभूतियोंका वर्णन संक्षेप मात्रसे हो किया है। परन्तु मेरी विभूति पहिचाननेकी कूची मैं, हे अर्जुन, तुमको अब बता देता हूं जिससे तुम स्वयं उस दृष्टिसे देखा करोगे तो तुमको उस उस व्यक्तियोंमें मेरी विभूति भासमान होगी। 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्' ॥ यह उन विभूतियोंकी पहिचान करने का सूत्र है। जहां जहां असामान्य गुण दिखाई देगा, जहां जहां कुछ विशेषता दिखाई देगी, चाहे वह भौतिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक कोई भी जातकी हो, वह विशेषता मेरे ही अंशसे उत्पन्न हो गयी ऐसा तू समझ ऐसा, भगवान अर्जुनको अंतमें कह देते हैं। गुलाबकी सुंदरता, नदीकी रमणीयता, पर्वतोंकी विशालता, समाज सुधारकोंकी आस्था, देशभक्तोंका देशप्रेम, नेताओंकी गंभीरता, लेखकोंकी प्रतिभा, कविओंकी स्फूर्ति, वक्ताओंकी धीरता, गुरुओंकी शिष्य प्रति तथा माताओंकी पुत्र प्रति वत्सलता, स्त्रियोंकी विनयता, पुरुषोंका पौरुष इत्यादि सब भगवानके तेजसे निर्माण हुवे

अंश है। उन उन व्यक्तियोंमें उस उस रूपमें भगवदंश ही व्यक्त होता है यह जानना सम्यक् जानना है। इसीको ही अध्यात्म दृष्टी कहते हैं।

ऐसा जो जानता है वही सातवें अध्यायमें तथा नवमें अध्यायमें कहे अनुसार साधिदैव और साधिदेह ईश्वरको जानता है ऐसा होगा। यही विराट पुरुषोपासना है। परा भक्ति इसीको ही कहते हैं 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' इसका अर्थ भी उपर्युक्त कथनानुसार ही है। जगत् यानी प्रगमनशील वस्तु, उत्पन्न वस्तु। उसको भगवत्स्वरूप मानकर उसको अपना कायिक, वाचिक, मानसिक सामर्थ्य अर्पण करके यानी 'तेन त्यक्तेन' उर्वरित शक्तिसे स्वतःका निर्वाह करो ऐसी श्रुतिकी आज्ञा है।

ऐसा देखनेवाला पुरुष लौकिक दृष्टिसे मूर्तिपूजक परन्तु अध्यात्म दृष्टिसे विश्वपूजक होता है। अणु अणुमें, स्थिरचर पदार्थोंमें वह ईश्वरका दर्शन करता है। इतनी विशालता उसमें आती है। तब वह किसके साथ झगडा करेगा? झगडे में भी वह ईश्वर स्वरूप ही देखेगा। इसी लिये 'द्यूतं छलयतामस्मि' ऐसा भगवान कहते भी हैं। एतादृश विराटदर्शी पुरुष को सर्वत्र भगवान ही दिखाई देता है और सब घट घटमें वह भगवानकी-महत्की लीला, ईश्वरका विलास देखता है। ऐसी दृष्टि आ जानेपर यह पुरुष कर्मको छोडेगा भी नहीं और लेगा

भी नहीं। जो कुछ, प्रकृतिधर्मसे उपस्थित कर्म होंगे, उसे बिना रंज करते रहेगा और यही गीताका हार्द सिद्धांत है।

卐

अध्याय ११

— सूत्रसंचालकका भान —

सब चराचर वस्तुजातमें ब्रह्मतत्त्व भरा है, अणु अणुमें भगवान विराजमान हैं 'घट घटमें रमता राम रमैया' यह वस्तु खूब चर्ची गयी। प्रत्यक्ष भगवान इस ज्ञानको कहनेवाले सन्मुख उपस्थित हैं, तब कौनसा पुरुष उस 'घट घट में रमता राम'का विराट दर्शन करनेके लिये उत्सुक न होगा? अर्जुनने जब यह सब तत्त्वज्ञान सुना तब उसको, उस ब्रह्मके भूमा स्वरूपका दर्शन करनेकी इच्छा होना क्रमप्राप्त ही था। और इसी ख्यालसे वह भगवानसे प्रार्थना करता है 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो' तो कृपया मुझे वह विराट स्वरूपका दर्शन एकवार करवाइयेगा। आपके कहनेसे मुझे विश्वास तो हो ही गया परन्तु उसको दृढ करनेके लिये, यदि मैं अभीतक साधिभूताधिदैव आपके

स्वरूपका वर्णन सुनता था उसका अनुभव साक्षात् कर लूं तो मै कृतार्थ हुआ। यह एक भक्तकी इच्छा है और उस इच्छाको भगवान इस अध्यायमें पूर्ण करते हैं।

श्रीकृष्ण और अर्जुन इन्होंका संवाद इतना रंगमें आ गया था, वे उसमें इतने तल्लीन हो गये थे कि, अर्जुनका प्रश्न पूरा होता भी नहीं और श्रीकृष्णने अपना विराट स्वरूप उसके सामने खडा कर दिया। गुरु-शिष्य संवाद ऐसा ही होता है। शिष्यकी गुरु प्रति जितनी आस्था और प्रेम उतना गुरुके अंत करणका प्रवाह शिष्य प्रति बहता रहता है। शिष्य को सिर्फ अपनी आस्थापूर्वक मनोवृत्ति गुरुसे आर करनी होती है। और वहाका ज्ञान आप ही आप शिष्य प्रति बहता आता है। यही भारतीय प्रणाली है। उपनिषदोंमें यही प्रणाली 'समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम' इस उक्तीसे बतायी है। इसी लिये भारतमें गुरुशिष्य प्रणाली अति पवित्र मानी गयी है।

श्रीकृष्णने विराट स्वरूप खडा कर दिया परन्तु अर्जुन अनाकलित ऐसा मूढसा खडा है, ऐसा जब देखा तब श्री कृष्ण उसको दिव्य चक्षु देते हैं जिससे वह इस रूपको देख सका। विराट स्वरूपका ग्रहण मर्यादित चक्षुरिंद्रियसे होना असम्भव है। उसको विराट दृष्टि ही चाहिये। वह दृष्टि भगवानने अर्जुनको दी। उस दृष्टिसे अर्जुनने अखिल चरा चर त्रैलोक्य और उसके अंदरके भूतमात्र सबको एक साथ देखा। गंधर्व, स्वर्ग, नरक, पाताल, देवयोनि, तिर्यक्योनि,

इत्यादि सब देखा। प्रत्यक्ष वहांका कुरुक्षेत्र रणांगण, कौरव सेना तथा स्वपक्षीय सेना भी उसने उस दृश्यमें देखी। साथ साथ उन पक्षोंमें चली हुई घटना विघटना भी उसने देखी। यह घटना एक विशिष्ट शक्ति उपर-परमेश शक्ति पर-चली है यह भी उसने देखा। उसमें और भी एक चीज उसने देखी; प्रत्यक्ष स्वतःको ही उसने वहां देखा और वह भीष्म द्रोण कर्णादिकोंको मारता है ऐसा देखा।

प्रथम जो अर्जुनको शोक हुआ था और कहता था 'मैं इन गुरुजनोंको कैसे मारु?'। वही अर्जुन स्वयं सबका हनन कर रहा है ऐसा दृश्य खुद अर्जुन ही अपने सामने देख रहा है। यह देखनेसे उसका पूर्वाभिमान नष्ट होता है और वह ठीक समज लेता है कि 'नाहं कर्ता हरिः कर्ता' अेक बडी भारी शक्ति अर्जुनको निमित्त करके काम कर रही है। उसमें अर्जुनका स्वपुरुषार्थ कुछ भी नहीं है। सब योद्धाअें उस विराट शक्तिसे मरे हुअे पडे हैं।

इतना भयंकर दृश्य देखकर अर्जुन जैसा धीरोदात्त वीर भी भयभीत हुआ और हृदरोमा होकर वारंवार शिर अवनत करता हुआ उस विराट पुरुषकी स्तुति ही मात्र करने लगा।

उस समय अर्जुनको सब पूर्व वर्तावका स्मरण होता है। श्रीकृष्णके साथ वह जिस मित्रभावसे, भ्रातृभावसे वर्तन करता था उसका उसे पश्चात्तापपूर्वक स्मरण होता है और

उस घबराटमें वह भगवानसे वारवार क्षमायाचना करता है जो जो मैंने अज्ञानसे, तुमारे साथ हे कृष्ण, तुमारा ऐश्वर्य न जानते हुए वर्तन किया वह सब, हे भगवन, क्षमा कीजिये।

अज्ञात वेषमें कोई राजा किसी किसानके घर कुच्छ दिन ठहर जाय और जाते समय उस किसानको खबर पड जाय कि यह तो राजा है तब उस किसानकी जैसी विकल संभ्रम युक्त अवस्था हो जाती है, उससे भी बढकर अर्जुनकी अवस्था इस वक्त हो गयी। वारवार वह अवनत होकर नमस्कार करता है, नेत्रोंमेंसे अश्रुप्रवाह चल रहे हैं, दृष्टिके सामने अनेक वीरोंका संहार देखता है, भीष्म-द्रोण मर गये हैं, गधर्व, विद्याधर इत्यादि उस कालपुरुषकी स्तुति करके शांति प्रस्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं, रुद्रादित्य इत्यादि देवगण भी वारवार नतमस्तक होकर स्तुति कर रहे हैं, ऐसा अलौकिक दृश्य किसको भयभीत करके स्तमित न करेगा? श्रीकृष्णका ऐसा स्वरूप तो अर्जुनने कभी भी कल्पनागम्य भी किया नहीं था। अतः वह अति विह्वल और अनुतापयुक्त होकर दिङमूढ होकर खडा है।

अर्जुनकी यह स्थिति देखकर, श्रीकृष्ण उसका सांत्वन करते हैं और अपना पूर्व सौम्यरूप प्रकट करते हैं जिससें अर्जुन सावधान होकर शांत होता है। ऐसा रूप तो देवोंको भी अति दुर्मिल है और इस विराट पुरुषका दर्शन करनेके

लिये हजारों मुनी हजारों प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु उनको सुगम नहीं होता। वह रूप भगवानने कृपावंत होकर अर्जुन को दिखाया। अत्यंत तीव्र भक्ति, जो परास्वरूपकी है और जिसका वर्णन सातवें अध्याय और नवमें अध्यायमें हो चुका है, उस अनन्यशरण भक्तिसे हि भगवानका यह रूप, भक्त देख सकता है। अन्यथा वेदाध्ययन, यज्ञयागादि कर्मोंसे नहीं। ऐसा भगवान ही स्वयं कहते हैं।

अब यह विश्वरूप दर्शन स्थूल चक्षुरिंद्रियसे हुआ नहीं यह सिद्ध बात है। दिव्य चक्षु भगवानने अर्जुनको दिये जिससे वह यह दर्शन कर सका। यह दिव्य चक्षु क्या वस्तु है? वस्तुतः भीष्म द्रोण तो स्थूल शरीरसे, गीता सुनायी गयी उसके बाद नव-दस दिनमें मर गये। परन्तु विश्वरूपमें अर्जुन तो उन सबको मरे हुए देखता है। इन सबका खुलासा केवल बुद्धिवादसे हो सकता है क्या? संपूर्ण खुलासा न हो तो जितना हो सके उतना तो खुलासा करनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये।

आज हमको जो सृष्टिज्ञान है वह पंचेंद्रिय हैं इस लिये ज्ञान है। हमारा ज्ञान पंचेंद्रियजन्य ऐसा कुछ संकलन है। हमसे जिसको एक इंद्रिय कमती है उसका ज्ञानसंकलन हमारेसे जरूर कमती होगा। अब जो अंधा है, बहरा है और गुंगा है उसका सृष्टिज्ञानसंग्रह हमसे कुछ तो कम होगा ही।

हमारा ज्ञान यह वस्तु, अतः हमारे इंद्रिय संख्यापर निर्भरित है। उनके कमती ज्यास्तीसे हमारा ज्ञान कमज्यास्त हो सकता है।

अब मान लीजियें कि कोई एक पुरुषको छठा इंद्रिय अगर उत्पन्न हुआ तो उसका ज्ञानसंकलन हमसे जरूर अधिक होगा। उसका सृष्टिके और देखनेका दृष्टिकोन भी अलग बनेगा। जिस वस्तुमें हम सक होंगे उसमें वह शायद ही सक्त होगा या नहीं भी होगा। वह पुरुष जिस वस्तुका निर्देश करके बतायेगा वह चीज हमारे समझमें आयेगी भी नहीं।

अब दूसरी ओरसे देखिये। हमारा ज्ञान, जागृति स्वप्न सुषुप्ति, एतादात्मक तीन अवस्थाका संकलन है। जागृतीमे जैसा सूक्ष्म ऐसी स्वप्नसृष्टिका अनुमान होता है वैसा ही स्वप्नसे, उससे भी सूक्ष्म ऐसी सुषुप्तिका अनुमान होता है। अब उसके अनतरकी अवस्था हमे आज ज्ञात नहीं है। परंतु अनुमानसे, सुषुप्तिसे भी सूक्ष्म अवस्थाकी कल्पना कर सकते हैं। अनेक महात्मा उसका वर्णन करते हैं। अतः अनुमानसे और आप्त वाक्यसे एक चतुर्थ अवस्था माननी पडती है! उस चतुर्थ अवस्थामें सृष्टि सब सूक्ष्मरूपसे दिखायी देगी। स्थूल अवस्थांतर होने तक जो सूक्ष्म परिवर्तन हैं वे सब वहां परिज्ञात अगर होंगे तो! और उनके सूक्ष्म व्यवहार भी दिखाई देंगे तो!।

जागृतीसे, स्वप्नमें सूक्ष्म वस्तु, और सूक्ष्म व्यवहार दिखायी देते हैं वैसे ही हम चतुर्थ स्थितीमें तीनों अवस्थाति-

रिक्त सूक्ष्म वस्तु और सूक्ष्म व्यवहार दिखाई देते हैं ऐसा मानना पड़ेगा। इसीको तूर्यावस्था कहते हैं।

मार्कंडेयकी कथा प्रसिद्ध है। वे आचमन कर रहे थे और एक क्षणमात्र आंख मींच ली और उस एक क्षणमें अखिल चराचर सृष्टि और उसके व्यवहार, प्रलयकाल, वट-पत्रशायी बालक इतना सब दृष्टिगोचर हो गया। वे व्याकुल हो गये और आंख खोली तो देखते हैं कि वे वहांके वहां ही बैठे हैं। अक्रूरका यमुनामें स्नान करते वख्त ऐसाही अनुभव भागवतमें प्रसिद्ध है। यशोदाको भगवान अपना मुह खोल-कर अखिल सृष्टि तथा यशोदा और श्रीकृष्ण इनका भी दर्शन वहां कराते हैं। इस क्षणमात्रकी अवस्थाको न जागृति, न स्वप्न, न सुषुप्ति कह सकते। उससे अतिरिक्त एक अवस्था माननी पड़ती है। वह अवस्था स्वपुरुषार्थसे संपादित हो या दूसरेके शक्तिसे हो यह बात जुदी है।

अर्जुनको भगवानने उस अवस्थामें क्षणिक खेंच लिया और उसमें अर्जुनने, भयंकर गतिसे घुमते हुए कालचक्रको देखा। जो जो घटना होती है वह पूर्व भगवत्संकल्पित ही होती है। अतः जिस समय हम उस घटनाका स्थूल स्वरुप देखते हैं उसके पहले सूक्ष्मरुपसे वह घटना बन चुकी होती है। अपना स्थूल इन्द्रिय उस घटनाको देख नहीं सकता यह बात अलग है। इसका परिणाम अर्जुनने विश्वरूपमें बराबर

देख लिया। उद्योगपर्वमें भीष्मजीके कथनानुसार 'कालपक्व-मिदं मन्ये सर्वं क्षत्र जनार्दन' इसकी प्रतीति अर्जुनको आगयी।

यह दर्शन भगवत्कृपासे उसे हो गया। यह साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता जब तक होती नहीं, उपर्युक्त प्रकारकी भगवत्कृपा जब तक होती नहीं तब तक, अनुमानके दृढाभ्यास से ही इस विराट स्वरूपका आकलन करना चाहिये जिसका वर्णन दशमाध्याय तक भगवानने किया है। अनुमानसे और शब्दसे उस विराट पुरुषका वर्णन उन्होंने किया परंतु अर्जुन अत्यंत प्रिय भक्त होनेके कारण उस ज्ञानका साक्षात्कार भी उसे करा दिया। सर्वसाधारण साधकको उस दर्शनकी आकांक्षा रखना ठीक है परन्तु उसे साक्षात्कार होने तक अनुमान और शब्दसे अपना समाधान कर लेना उचित है। अर्थात् यह समाधान उस साक्षात्कारजन्य समाधानसे कभी भी हीन हो रहेगा।

विराट स्वरूप देखकर भयभीत अर्जुन भगवानसे फिर 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन' ऐसा चतुर्भुज होनेके लिये प्रार्थना करता है यह भयंकर रूप मेरेसे सहा नहीं जाता। क्या श्रीकृष्ण उस जमानेमें चतुर्भुज थे? इसका उत्तर तो बुद्धिवादी-ओंको यही देना होगा कि श्रीकृष्ण द्विभुज ही थे। अर्जुन जब श्रीकृष्णको उनके प्राकृतिक चतुर्भुज रूपके लिये प्रार्थना करता है तब उसका अर्थ क्या?

इन सब प्रश्नोंसे यही सिद्धांत निकलता है जो कि

प्रथमाध्यायमें सूचित कर दिया है। गीता यह श्रीव्यासजी की एक प्रतिभाशाली कृति है। इस अध्यायमें उन्होंने भक्तों की कामना तथा साक्षात्कारका अवस्थावर्णन कर दिया हैं। सगुण मूर्तिका साक्षात्कारी भक्त, भगवानकी चतुर्भुज मूर्ति का ही ध्यान पसंद करता है। उसमेंही उसे आनद रहता है परन्तु जब उसकी अधिक प्रगति होकर भगवानकी विराट मूर्ति उसके सामने दिव्यदृष्टिमें आ जाती है तब यह मूर्ति आकलन करके उसमें आनद लेनेकी तैयारी उतनी उसमें रहती नहीं। अतः व्याकुल होता है और फिर वही अपनी पहली मूर्तिको देखना चाहता है। यही हालत अर्जुनके रूपसे यहां बता दी है। अर्जुन उत्तम भक्त था; भगवानका प्रिय था। इस लिये उसे इस रूपका दर्शन हुआ। वही आत्यंतिक भक्ति अभीतक वर्णन की गयी थी। इस भक्तिमे सांख्य और योग इनके ओरसे दो भेद होते हैं। उसे ही अव्यक्त और व्यक्त उपासना ये नाम हैं। इन दो भक्तिमे व्यक्तोपासना सब के लिये सुलभ है और अव्यक्त उपासना क्लेशवाली अतः उतनी सुलभ, सबके लीये नहीं होती। इस क्रमप्राप्त विषयको अब अग्रिम अध्यायमें छेडते हैं।

卐

अध्याय १२

— व्यक्त और अव्यक्त —

इस संसार रूपी रंगभूमिके पडदेके पीछे कयी कयी घटना चलती रहती हैं उसकी यथार्थ कल्पना विश्वरूप-दर्शनसे अर्जुनको ठीक आ गयी। संसारके पात्र चलाने-वाला सूत्रधार पडदेके पीछे बैठकर कुछ विशेष दृष्टिसे सूत्र चालन करता है और उस चालनके अनुसार संसारका व्यक्तिया वर्ताव किया करती हैं।

भारती युद्ध रूपी घटनाके पीछे कितनी विसाल घटना कालचक्र हो गयी थी यह भी अर्जुनने जान लियी। इस निमित्तसे अखिल चराचरकी घटना और विघटना उस विश्वरूपमें जब उसने देखी तब उस भयंकर दृश्यको देखकर अर्जुन अत्यंत भयभीत हो गया और यह दृश्य कब मिट जायगा ऐसा उसको हो गया। भगवानने यह जानकर अपना रुद्र स्वरूप मिटाकर फिर सौम्यरूप धारण किया। यह विराटस्वरूपयोग, भगवान कहते हैं 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य.'। भक्तिका वर्णन अत प्रस्तुत होनेके कारण इस

अध्यायमें उसका वर्णन प्रासंगिक ही है। अतः भक्तियोग नामका यह अध्याय उत्पन्न होता है।

भक्तियोगके बारेमें लोगोंकी प्रचलित कल्पना और गीता के अंदरकी कल्पना इनमें जमीन असमानका भेद है। पाषाण या धातुमयी भगवानकी मूर्ति बनाकर, गंधाक्षता, पुष्पादिक से उसकी पूजा अर्चा करना, 'रामकृष्ण' नामोच्चार करते रहना यही प्रायः भक्तियोगकी व्याख्या तथा भक्तियोगका प्रकार लोगोंमें दिखाई देता है। क्रियाकलापोंके उपर ही विशेष जोर देखनेमें आता है। परन्तु गीताका भक्तियोग, जरा विचार करके देखें तो इससे बहुतही भिन्नसा मालूम पडता है।

जहां जहां भक्तिका सदर्भ गीताके अंदर आया है वहां भक्तिका स्थूल प्रकार अभिलक्षित ही नहीं। 'भक्त्या लभ्य स्त्वनन्यया' 'भक्त्या मामभिजानाति' 'मत्कर्म कृन्मत्परमः' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजते मां' 'मन्मना भव मद्भक्तो' 'मय्यर्पित मनोबुद्धिः' इत्यादि वचनों से भक्तिका अर्थ अेक विशिष्ट प्रकारका ज्ञान यही प्रतीत होता है। अतः भक्तियोग यानी विशिष्ट प्रकारका ज्ञानयोग मालूम होता है जिसमें क्रियाकलापका आविष्कार है ही नहीं। एक प्रकारकी ज्ञानमय भावना वह है। अतः श्री रामानुजा-चार्यजीने भक्तिकी व्याख्या 'भक्तिस्तुनिरतिशयानंदप्रिया-नन्यप्रयोजनसकलेतरवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव' ऐसी की है।

सकल चराचर व्यापार एक ईश्वराधीन है वहहि सर्वज्ञ है, जीव परतन्त्र है 'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' यह ठीक जानकर यह सृष्टि जो उस ईश्वरका स्वरूप है उसमें 'ॐ तत्सत्' भावनासे निराग्रह होकर रहना यह ही गीताके भक्तिका लक्षण दिखता है। ऐसा भक्तहि भगवान का प्रिय है और ऐसे निराग्रही और उदासीन भक्तका योग क्षेम भगवान चलाते है, उसके उद्धारकी जिम्मेदारी भगवान कहते है मेरे उपर है तेषामहं समुद्धर्ता 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' इ

भगवत्स्वरूपकी उपासनाको हि इस अध्यायमें व्यक्तोपासना कही है। क्योंकि भगवानका व्यक्त स्वरूप, प्रकट ज्ञात स्वरूप इस चराचरात्मक सृष्टिरूपसे माना है और उसमें कतिपय विभूति विशेष उपासनाके लिये मानी गयी है। यह हि भगवानका व्यक्त स्वरूप है। इससे पर यानी चराचर सृष्टिकी कल्पना यहांतका जो भगवानका अव्यक्त स्वरूप 'सच्चिदानंद रूप' है उसको सृष्टिकी कल्पनातिरिक्त होकर उपासना करना उसको यहां अव्यक्तोपासना कहा है। तीव्र सन्यासी-जैसे सनत्कुमारादि-उस अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं। उनकी उपासनामें सृष्टिका ख्याल परित्यक्त वस्तु है। साधिभूत-साधिदैव भगवानका स्वरूप उनके उपासनाका विषय रहता नहीं। अतः वे अव्यक्तोपासक कहे जाते हैं।

इस विचारसरणीसे ही अर्जुन अध्यायके प्रारंभमें पूछता है 'तेषां के योगवित्तमाः' उसपर भगवान भी 'अव्यक्त पर्युपासते' 'कूटस्थमचलं ध्रुवम्' 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषां' इन वचनोंसे उत्तर देते हैं।

ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा, संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग, सांख्यनिष्ठा और कर्मनिष्ठा ये शद्व जो द्वितीयाध्यायमें आये हैं उनका ही विस्तृत विवेचन, विशेषतः कर्मनिष्ठाका, दशम अध्याय तक भगवानने किया और द्वादश अध्यायमें उस कर्मनिष्ठाका ही भक्तियोग शद्वसे विवेचन कर दिया है। सृष्टिके तरफ, कर्मके तरफ देखनेकी जो दो शास्त्रीय दृष्टि सूत्ररूपसे

द्वितीयाध्यायमें कह दी गयी। उसका हि आविष्कार पीछेके अध्यायमें किया है। अतः द्वितीय अध्याय सब गीताका बीज है यह कहना ठीक ही है। इस दृष्टिसे जब देखेंगे तब द्वादशाध्याय स्थूल गधाक्षतादि पूजा प्रधान ऐसी उपासना बताता नहीं यह स्पष्ट होगा। यह चराचरात्मक भगवत्स्वरूपकी उपासना बताता है जो कि यह ज्ञानमय भावनामय उपासना होती है।

इसके व्यतिरिक्त चराचर सृष्टिकी परवाह न करते हुवे साधिभूताधिदैव भगवत्स्वरूपकी भी परवाह न करते हुवे केवल अक्षर ब्रह्म केवल सच्चिदानंदरूप परमात्माकी, सर्वसंग परित्याग करके उपासना करते हैं वे अव्यक्तोपासक हैं जैसे सनत्कुमारादि।

इन दोनोंमें प्रथमोपासना सुकर है और दुसरी उपासना कष्टतर है। यह कहनेका भगवानका भावार्थ। दोनाही उपासना ज्ञानमय ही है। स्थूल कर्म इसमें भी नहीं है।

अब मूर्तिपूजा, सगुणोपासना 'हरे राम हरे राम' नाम स्मरण, गधाक्षतात्मक पूजा इत्यादि वस्तु जो लोगोंमें इस अध्यायसे माना गया है वह उपरोक्त दृष्टिसे परास्त होगा और शुद्ध भक्तियोगका स्वरूप स्पष्ट होगा ऐसी खात्री है। और यह स्वरुप केवल ज्ञानमय ही है।

इससे यह न समझना चाहिये कि पूजा अर्चादि कर्म

गीताको मान्य नहीं। ये स्थूल प्रकार हैं। उसके पीछे जो ज्ञानमय भावना है वह लक्ष्य है। उसीको ही इस अध्यायमें बताया है। अभिलक्षित ऐसी वस्तु यहां दो। एक आधिभूत-आधिदैव इनसे भी पर जो ब्रह्मका निर्गुण स्वरुप, उसका ध्यान करनेवाले जैसे सनत्कुमारादि, जो मार्ग आचरते हैं वह। और दूसरा साधिभूत-साधिदैव ऐसा ब्रह्मका विराट स्वरुप, जो कि सृष्टिरुपसे प्रतीत है उसकी उपासना करनेवाले प्रह्लाद, अंबरीषादि जो मार्ग आचरते हैं वह। प्रथम मार्ग अव्यक्तोपासकोंका और दूसरा मार्ग व्यक्तोपासकोंका। दोनोंमें ज्ञानका ही प्रादुर्भाव है। एकमें सृष्टिरहित ब्रह्मज्ञान; दूसरेमें सृष्टियुक्त ब्रह्मका ज्ञान।

अब पता चलेगा कि भक्ति यह कितनी श्रेष्ठ और गहन वस्तु है। ज्ञान, ध्यानयोग इत्यादि समान यह भी अति कठिण अवस्था है। लोगोंमें भक्ति अति सुगम वस्तू माननेमें आती है। कथा कीर्तनमें भक्तिकी सुलभता अन्य मार्गोंके अपेक्षा सदैव बतायी जाती है। परन्तु गीताकी भक्तिमीमांसा देखनेसें पता चलता है कि वह अती गहन वस्तू है। उसमें बुद्धिकी स्थिरता चाहिये, वैराग्य चाहिये, सम्यक् प्रज्ञा चाहिये। एवं ज्ञानप्रधान अंतःकरण बन जायेगा तब ही वह अनन्य भक्ति उठ सकती है।

केवल गंधाक्षतादि पूजनकर्म सरल वस्तु है। परन्तु वही परिसमाप्ति नहीं। 'मूढस्य प्रतिमापूजा' ऐसा श्रीभाग-

यत्नमें भी कला है। प्रतिमापूजासे चढते चढते ज्ञानमय उपासनामें जाना यह श्रीमद्भागवतका सिद्धान्त है। स्थूल पूजासे मानसपूजा श्रेष्ठ है और मानसपूजासे ज्ञानमय पूजा श्रेष्ठ है। 'सब भूतोंमें भगवद्भाव' 'विश्वरूपमें ईश्वरका विलास' देखते हुए यह भक्त 'सतत कीर्तयन्तो मां' 'अन्यान्य तत् परस्परम्' ना स् करते करते 'नित्ययुक्ता उपासते'। 'यल्लब्ध्वा सत्ता भवति, आत्मारामो भवति' 'यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि' ना स्

यह नारद भक्तिसूत्रोक्त वर्णन बराबर 'न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति' इत्यादिसे यहां मिलता है। वही उदासीन अवस्था उस भक्तिका प्रभाव है। यही इस अध्यायका लक्ष्य है। वही श्रेष्ठ भक्ति है जो फलतः ज्ञानमय बन जाती है। और फिर उसमें कर्म, ज्ञान, ध्यान भजन ऐसा विभेद कर ही नहीं सकते। यह परा भक्तिका वर्णन यहां है। इस प्रकारसे ज्ञानमय भक्तिमें प्रविष्ट हुआ साधक 'अपि चेत् दुराचार' परन्तु 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' ऐसा भगवान् अभिवचन देते हैं।

सारांश—कर्मयोग, कर्मनिष्ठा, साधिभूत-साधिदैव उपासना, भक्तियोग, व्यक्तोपासना, चराचरात्मक भगवदोपासना इत्यादि शब्दोंसे एक ही अर्थ प्रतीत होता है, अतः वे सब शब्दप्रयोग समजना चाहिये। इस भक्तियोगकी सुकरता

बता कर ' मय्येव मन आधत्स्व ' ' अभ्यासयोगेन मामिच्छाप्तुं धनंजय मत्कर्म परमो भव ' ' सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ' इत्यादि वचनोंसे उनकी एकएक सुकर श्रेणियां बता दी गयी। सामान्य शक्तिशाली मनुष्यको यह रास्ता सुकर है ऐसा ध्वनि तभी कर दिया गया ' ये तु धर्म्यामृतमिदम् यथोक्तं पर्युपासते श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेतीव मे प्रियाः'। सृष्टिमें भगवानकी अनेक विभूतियां मानकर सृष्टिका त्याग न करके जो उस सृष्टिको भगवत्स्वरूप मानता है वही परम भक्त भगवानको प्रिय है।

द्वितीयाध्यायके स्थितप्रज्ञ लक्षण और इस अध्यायके भक्त लक्षण इनमें क्या फरक है? अतः यहांका वर्णित भक्तियोग द्वितीयाध्यायोक्त कर्मयोगी स्थितप्रज्ञसे कुछ अलग नहीं है। स्थितप्रज्ञ—भक्तिमान—ध्यानयोगी ये सब एक ही वस्तु हैं।

卐

अध्याय १३

— क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ —

सातवे अध्यायमें दो प्रकृतिका वर्णन किया, एक अष्टधा प्रकृति और दूसरी जीव प्रकृति। ये दो जडाजड प्रकृति एक ब्रह्ममें ही व्याप्त है। जडाजड सृष्टि उस ब्रह्मकी सत्तासे हि प्रतीत होती है। भगवान कहते हैं 'मया ततमिदं सर्व' 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'। इस विषयमें अनेक दूसरे क्रमप्राप्त विषय उठ आये जिसका निरसन प्रसंगतः यहां करना उचित और जरूरी था। इस लिये थोडासा विषयांतर होते हुवे भी बारहवे अध्याय तक उन उपरी विषय को छेडना हो गया। अब वही सातवें अध्यायमें शुरु हुआ विषय, जडाजड प्रकृतिके बारेमें उपस्थित किया था यहि आगे सिल-सिलेवार बढाते हैं। अतः यह तेरहवा अध्याय सातवे अध्यायके साथ पढनेसे विशेष खुलासा होगा। अष्टधा प्रकृति और जीव प्रकृति इनसे ही अखिल सृष्टिकी निर्मिति हुई है। अब उनमें क्षेत्र क्या है, क्षेत्रज्ञ किसको कहते हैं, ज्ञान क्या है, ज्ञेय क्या है, इन विषयोंकी उपस्थिति अब

अखिल प्रकृतिका वर्णन शुरु हुआ है वहां हेना क्रमप्राप्त है अतः उन दो चार वस्तुका निर्वचन अब यहां करते हैं।

सांख्यशास्त्रका प्रकृति पुरुष विचार ही यहां किंचित् फरक करके जैसाके वैसा ही उद्धृत किया सा मालुम होता है। यहां उन सांख्य तत्त्वद्वयको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ऐसा कहा है। कभी अथवा प्रकृति और जीव ऐसा कहा है, कभी वैसे के वैसे भी शब्दप्रयोग किये हैं जैसे 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादी उभावपि विकारांश्च गुणान् सर्वं विद्धि प्रकृतिसंभवान्। सांख्य जैसे मानते हैं कि प्रकृतिपुरुष संयोगजन्य ही अखिल सृष्टि है वैसा हि गीता कहती है 'यावत्...स्थावर जंगमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ'। 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते' यह सांख्यका ठीक अनुवाद ही है। प्रकृति और पुरुषका विवेक यह सांख्यशास्त्रका सिद्धांत है, गीता भी 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह' 'न स भूयोऽभिजायते' ऐसा उसका अनुवाद करती है। सांख्यका पुरुष अकर्ता, निर्लेप है वैसा यहां भी माना है। आत्मा, क्षेत्रज्ञ, इ० उस पुरुषके पर्याय शब्द रखे हैं।

अथवा प्रकृतिका बना हुआ पिंड यह क्षेत्र कहा जाता है। उसमें चेतन्य जो ब्रह्मका अंश है वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। यहां थोडासा फरक उस सांख्य और गीताके सिद्धांतमें दिखाई देता है। प्रकृति और पुरुषसे अतिरिक्त कुछ वस्तु

सांख्य मानते नहीं परन्तु गीता ब्रह्म एक वस्तु मानती है। जिसकी ' पुरुष और प्रकृति ' ये दो प्रकृति हैं ऐसा गीता कहती है। इसका स्पष्ट वर्णन पंद्रहवे अध्यायमें अधिक होगा।

यहां सांख्य मतानुसार और जहां फरक हो वहां थोडा फरक बनाकर उन क्षेत्रक्षेत्रज्ञादिकोंका ही वर्णन करते हैं। ' महाभूतान्यहंकारो ' यहांसे ' संघातश्चेतना धृतिः ' यहांतक क्षेत्रका लक्षण कर दिया। इससे पता चलेगा कि सांख्यकी प्रकृति और यह क्षेत्र एक ही है। यह क्षेत्र जाननेवाला जो है उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं ' क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ' यह सांख्यका पुरुष है।

'अमानित्वमदंभित्वमहिंसा...यहांसे 'तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्' यहांतक ज्ञानका लक्षण बताया है। यह ज्ञानका लक्षण तो हरेक सम्प्रदायमें एकसा ही पाया जाता है। इसमें किसीका मतभेद न होगा; सांख्य, न्याय इत्यादि दर्शनकार ज्ञानसे उपरोक्त वस्तु ही मानते हैं। अतः इसके बारेमें सांख्य और गीताके सिद्धांतमें कुछ फरक नहीं।

' अनादिमत्परं ब्रह्म...यहांसे ' तमसः परमुच्यते ' यहां तक 'ज्ञेय'का वर्णन आता है। अब यहां अन्य शास्त्रसे गीता का सिद्धांत कुछ भिन्न पडता है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, इनमें तो सांख्य और गीता ऐकमतवाले हैं परन्तु ज्ञेयमें गीता अलग पडती है। सांख्य क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ या उनके परिभाषामें प्रकृति

और पुरुष इनके अतिरिक्त कुछ वस्तु मानते नहीं। गीता कहती है इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञोंको भी व्यापनेवाली वस्तु जो ब्रह्म नामसे ज्ञात है यह 'ज्ञेय' है। उस ब्रह्मसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञात होते हैं अन्यथा ये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ही ज्ञात नहीं होंगे। यह जो जानता है वही भगवान कहते हैं 'मद्भावा-योपपद्यते'

जिस प्रकार आकाश सर्वत्र होते हुये भी उस पर लेप नहीं होता वैसाहि ब्रह्म, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनोंको प्रकाशित करते हुये भी उनके संयोगजन्य अनेक कर्मोंका बीज-रूपसे कारण होते हुये भी 'नोपलिप्यते'। उस ब्रह्मको कुछ संपर्क है नहीं। यह वस्तु गीताका विशेष है जो अन्य दर्शनोंमें नहिं पाया जाता।

卐

अध्याय १४

— गुणत्रय —

यही तेरहवे अध्यायका विषय और बढाते हैं। जीव और अजीव इन दोनों प्रकृतिसे जो सब जगत् उत्पन्न हुआ

है। और इन दो प्रकृतिका उपादान कारण जो अेक ब्रह्म ही है तो फिर जगत्में विविधता क्यों दिखाती है?

यह सवाल मनमें लेकर अब इस अध्यायमें उसका उत्तरात्मक वर्णन आता है। यह सब वर्णन सांख्यशास्त्रके अनुसार ही है। गताध्यायमें हम देख चूकें कि सांख्य अधिक ब्रह्म बराबर गीता तत्वज्ञान है अतः ब्रह्म व्यतिरिक्त विवेचन मे सांख्यकी विचारसरणी ही गीताको मान्य है।

उभयविध प्रकृतिका बीजप्रदपिता, भगवान कहते हैं, मैं हूँ। 'तासां ब्रह्म महद्यानिरहं बीजप्रदः पिता'। उस प्रकृति के सत्व, रज और तम ऐसे तीन गुण होते हैं जो उसके विस्तारमें विविधता लाते हैं। जब ये तीन गुण सम रहते हैं, तब प्रलयावस्था होती है और उनमें जब क्षोभ होता है या जो न्यूनाधिक्य होता है तब सृष्टि होती है। उसके बाद सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण इनके लक्षण बताये हैं। जिससे मनुष्य स्वत. अपनेमें कौनसा गुणाधिक्य है यह जान सकता। निर्मलत्व, प्रकाशकत्व और ज्ञानपूर्वक सुख-आनंद ये सत्वगुणके लक्षण हैं। अनुराग, तृष्णा और आसक्ति यह रजोगुणके लक्षण हैं। अज्ञान, प्रमाद, आलस्य ये तमोगुणके लक्षण हैं। कभी सत्वका उद्रेक होता है तो कभी रजसका विशेष प्रादुर्भाव होता है और कभी तामसका उद्रेक अधिक होता है उस ख्यालसे उस वस्तुका निर्देश सात्त्विक,

राजसिक, तामस ऐसा होता है। मनुष्यमें भी उन तीन गुणों का अस्तित्व कायम रहता है उन उन गुणोंके प्राधान्यसे वह मनुष्य सात्विक, राजसिक, तामस कहा जाता है। जगतमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं कि जो इन तीन गुणोंसे रहित हो। कीडीसे लेकर ब्रह्मदेव तक सब सृष्टि त्रिगुणमय है। मनुष्य के कर्म भी त्रिगुणमय होते हैं जिनके फल भी उस उस प्रकार से उत्तम, मध्यम, हीन होते हैं। सात्विक कर्म मनुष्यको उन्नत करता है और प्रकृति-पुरुषात्मक विवेक करवाता है। राजस कर्म प्रकृतिके झंझटमें और और बांधने लगता है। तामस कर्म तो मूढता अधिक बढाकर मनुष्यको प्रमादशील अतः उन्नति मार्गसे दूर खेंचकर ले जाता है। सात्विक कर्म से मनुष्य आगे बढता है तो तामस कर्मसे पीछे हटता है। आगे या पीछे यह शब्द ईश्वरके अनुरोधमें समजना चाहिये।

इन तीन गुणोंसे यह सब जगत् चला है तो जिसको ईश्वरदर्शन-ब्रह्मदर्शन करना है उसे तो इन तीन गुणोंसे पर होना चाहिये, क्योंकि तीन गुणोंसे किया हुआ कर्म तीन गुणात्मक ही फल देगा। उसके अतिरिक्त फल देनेकी उन गुणोंकी ताकत है नहीं। अतः मनुष्यका लक्ष्य गुणोंसे पर होना इसपर होना चाहिये; ब्रह्म यह गुणोंसे पर वस्तु है। अतः ' गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं साधिगच्छति '।

अंधकार यह कितना भी बढानेसे प्रकाश उत्पन्न नहीं होगा। अेक दीपसे ही वह प्रकाश होगा, वैसे ही गुणात्मक

कर्मोंसे, चाहे वे अति सात्विक क्यों न हो? पर उससे ब्रह्म का दर्शन न होगा। इस लिये गुणातीतताका ही सेवन करना पडेगा। और यह गुणातीतता अत्यल्प भी उत्पन्न हुई तो अखिल गुणमय संसारका ध्वंस करने योग्य हो जाती है।

इस पर गुणातीतता कैसे उत्पन्न होती है और उसकी पहचान क्या है। ऐसा क्रमप्राप्त प्रश्न उत्पन्न होता है। और उसका उत्तर 'प्रकाश च प्रवृत्ति च मोहमेव च पांडव' 'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति' इत्यादि पंक्तिसे दिया है।

यह गुणातीत लक्षण ठीक स्थितप्रज्ञके लक्षणके साथ मिलते जुलते हैं। यहां द्वितीयाध्यायमें धर्म या सांख्यनिष्ठामें बुद्धि स्थिर होनेके बाद स्थितप्रज्ञके जो लक्षण हैं वे लक्षण यहां पर गुणातीतके और वे ही भक्तियोगमें कहे हैं। अतः सांख्यनिष्ठा या कर्मनिष्ठा, भक्तियोग या ध्यानयोग ये सर्व स्वतन्त्र ऐसी वस्तु नहीं है। इनका फल एक ही है। यह सिद्धांत दृढ होता है और यही गीताका लक्षण है।

❧

अध्याय १५

— पुरुषोत्तम —

सातवे अध्यायसे जो विषय चलाया था उसका स्पष्टतया वर्णन इस अध्यायमें कर देते हैं। जीव अजीव एतद्रात्मक भगवानकी प्रकृति, उसका तपशील ये सब तेरह और चौदह अध्यायमें आ चुके। अब उन दो प्रकृतिके पीछे का एकमेव अविच्छिन्न तत्त्व जो ब्रह्म उसको यहां बताते हैं। एवं जीव, अजीव और ब्रह्म ऐसा संकेत बन गया। इसमें जीव और अजीव ये दो एक ब्रह्मकी ही विभूतियां हैं। अतः फलत, और तत्वत: जीवात्मक सृष्टि और अजीवात्मक सृष्टि, ब्रह्म ही है यह सिद्धांत खूब चर्चा गया और सिद्ध किया गया। अब इस अध्यायमें उन दो प्रकृतिके पर जो विशुद्ध ब्रह्म उसके बारेमें थोडासा वर्णन क्रमप्राप्त है।

उस अतिरिक्त तत्वको ही यहां पुरुषोत्तम कहा है। अजीव सृष्टिके अंदर जीवात्मक ब्रह्मका अंश जो होता है उसको पुरुष संज्ञा है और अजीव सृष्टिको प्रकृति यह संज्ञा है। ठीक सांख्यकी प्रणाली यहां ली है। प्रकृति और पुरुष,

धारण करनेवाला समुद्रजल ये दोनों भी विशाल समुद्रसे अतिरिक्त नहीं हैं।

यही कल्पना इस अध्यायमें उत्तम बतायी है और यह गीताका मुख्य सिद्धांत है। ऐसा भगवानका स्वरूप जो जानता है वही 'सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत'। वहां अज्ञान कहां रहेगा और तज्जन्य अनेक शंका कुशंकाको स्थान भी कहां है?। परन्तु विमूढ लोक उस तत्वज्ञानको पहुंचते नहीं अतः भ्रांत होते हैं और मैं करता हूं, मैं करता हूं ऐसा मान बैठते हैं जिसका आविष्कार अर्जुनविषादसे प्रथम अध्यायमें आ चुका है। अतः भगवान कहते हैं उस पुरुषोत्तम तत्वको जान लो। उस तत्वका विचार यही गुह्यतम शास्त्र है। उसे जानकर 'कृतकृत्यश्च भारत'

यह कृतकृत्यता आनेके लिये कुछ साधनकी, कुछ विचार प्रणालीकी शैली अब संक्षेपसे बताना चाहते हैं जिससे मनुष्य जान सकेगा कि वह सम्यक् रास्तेपर है या झूटे रास्तेपर है। वही दैवासुर विभाग नामका प्रकरण अब शुरु होता है। उपर्युक्त ज्ञान ज्योति जिसके हृदयमें थोडीबहुत प्रकट हुई उसका निष्कर्षरूप, अग्रिम अध्याय है जिसमें दैवी संपत् और असुरी संपत्का वर्णन आयेगा। इससे साधक देख सकता है कि वह सत्यरास्ता चल रहा है।

अध्याय १६

— दैवासुरसंपत् —

(१) देवासुर संपत् (२) कर्मफलदाता ईश्वर (३) शास्त्र की व्याख्या इतने विषय इस अध्यायमें आये हैं। इन विषयो का विचार ही साधकोके लिये विशेष मननीय है। गीताके अंदरके कतिपय तत्त्वज्ञान चर्चासे भी इस अध्यायको साधनाकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व है क्योंकि आध्यात्मिक जीवनवालेको यह आदर्शसा अध्याय है। अपना मन किस प्रकारकी वृत्तिसे रखना चाहिये इसका यह अध्याय पथदर्शक है।

अध्यायके शुरुआतमें ही दैवी संपत और आसुरी संपत इन दो प्रणालीका वर्णन कर दिया है। प्रत्येक मनुष्य उपर्युक्त दो अंतःकरण प्रवाह तो चलते ही हैं। किस व्यक्तिमें दैवी अधिक तो किसमें आसुरी अधिक। परन्तु हरेक व्यक्ति के अंतःकरणमें दो प्रवाह कम या ज्यादह जोरसे चलते रहते ही हैं। ' अभय सत्त्वसंशुद्धि ..अहिंसा सत्यमक्रोध:...अद्रोहो-नातिमानीता ..' इत्यादि वर्णन दैवी संपतवाला प्रवाह बताता है। ' दम्भो दर्पो . क्रोधः पारुष्यमेव च ' इत्यादि वर्णन आसुरी

प्रवाह बताता है। मनुष्यका कर्तव्य इतना ही है कि वह अपना मन दैवी प्रवाहमें बहता रखे। इसीकारि कठोपनिषद्में 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।' ऐसा वर्णन किया है।

सुबह उठकर व्यायाम करना एक बुद्धि कहती है। और सुबहकी गुलाबी ठंडीकी मजा लेते पडे रहना यह दुसरी आलस्ययुक्त बुद्धि कहती है। इस वक्त देश ग्रस्त है अतः लोगोंसे अधिक पैसा लेकर कालाबजार चलाना पाप है ऐसा एक मत कहता है उसी वक्त लोभात्मक वृत्ति जोर करके पैसाकी ओर दौडती है। इन दृष्टान्तोंसे आदमीके अंतःकरणमेंके दो प्रवाह हरेक कर्मके बारेमें और जीवनके हरेक अंशमें प्रतीत होते ही रहते हैं। उन दो प्रवाहमें मनुष्य पर जो अधिक प्रभाव करेगा, मनुष्य जिस प्रवाहके अधीन बन जायगा उस प्रकारसे उसे आसुर या दैवी मनुष्य कहा जाता है। गीता कहती है कि हरेक मनुष्यने इसका ठीक ख्याल रखकर दैवी प्रवाह ही स्वीकार करना इह-परलोकमें सुखदायी है। अतः उसकोहि श्रेय कहते हैं। दुसरे प्रकारको प्रेय कहते हैं जो कि तात्कालिक सुख देनेवाला है परन्तु अंतमें मनुष्यकी अध गति करनेवाला है।

इससे पता चलेगा कि असुर यह कोई स्वतंत्र मनुष्येतर यानी नहीं है। नहीं उनका कुछ अलग लोक है। यहां हि

यह अंतःकरणकी एक अवस्था है। उसमें पडा हुआ मनुष्य, अगर ईश्वरकृपा न हो, तो अनेक वर्षों तक, अनेक योनियो तक, उस असुर प्रवाहमें ही बहता रहता है। 'काम, क्रोध, लोभाधीन मनुष्य जो कुछ कर्म करेगा वैसाहि उसके मनपर संस्कार पडेगा और फिर उस संस्कारनुकूल कर्म; ऐसी परंपरा चलते ही रहेगी। कर्म, तज्जन्य संस्कार फिर संस्कार जन्य कर्म ऐसा क्रमसिद्धान्त है।

सत संगतीसे उस अवस्थामें, अगर दैवी संपतकी जरासी झलक दिख पडी और उसमें श्रद्धा उत्पन्न हुई तो वह ही मनुष्य असुरलोकका आस्ते आस्ते त्याग करके देव-लोकमें चढ़ जाता है। प्रह्लाद, बिभीषण, वाल्मिकी इत्यादि पूर्व दृष्टान्त तथा तुलसीदास, जेसल-तोरल, पुंडरीक इत्यादि अार्वाचीन दृष्टान्त मौजुद हैं।

दैवी संपतमें विचरण करनेवाले भी उद्दामपनसे असुर योनीमें जाते हैं यानी काम, क्रोध, लोभाधीन बनकर उनका दैवी प्रवाह खडित होता है और आसुरी स्वभावसे पड जाते हैं। नहुप, जयविजय इत्यादि पौराणिक दृष्टान्त इस सिद्धान्त को बताते हैं। गुरुकृपा-भगवद्कृपासे फिर वे पश्चातापदग्ध होकर ऐसे दैवी गुणोमें आते है और देवलोकमें विहार करने-वाले होते हैं। दैवी संपतसे पतन होकर आसुर प्रवाहमें पडे हुबे लोगोंके दृष्टान्त अर्वाचीनमें अनेक मिलते हैं। साधु महात्मा, संन्यासी थोडे समय तक, कुछ वर्षों तक, उत्तम

अध्यात्मशील ऐसे रहते हुये लोगोंको मार्गदर्शन करते हैं। परन्तु उनमें भी ऐसे मिलते हैं कि जिनको फिर लोभ और काम पछाडता है और वे पतित होते हैं। देशभक्ति, देवभक्ति समाजभक्ति करनेको निकला हुआ मनुष्य कुछ काल तक खूप आस्थासे काम करता है फिर उनके जीवनमें पलटा आता है और वे उस भक्तिसे च्युत होते हैं। वे श्रेय मार्ग छोडकर प्रेयोगामी बनते हैं वहहि आसुरलोक है।

भगवान अर्जुनको कहते हैं 'मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोसि पांडव'। तुम्हारी वृत्ति सात्विक है और तुम मेरे प्रिय होनेके कारण तुमको आसुरीवृत्ति चलित नहीं करेगी।

अब 'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु'। किया हुआ कर्म भला हो या बुरा हो, उसका फल देनेको कोई चैतन्यकी जरूरी है या नहीं? यह विवादग्रस्त प्रश्न है। कतिपय दार्शनिक सम्प्रदाय चैतन्यकी जरूरत मानते नहीं। जैसे मीमांसक। वे कहते हैं कर्म करनेसे ही ऐसा एक अपूर्व उत्पन्न होता है कि यह मनुष्यको इष्टानिष्ट फल देता है। परन्तु गीता चैतन्यकारणत्व मानती है उसीको ही ईश्वर संज्ञा है। यह साक्षीरूपसे कारण है न कि उसमें कुछ पक्षपात रखते हुये। दीप जलता है, उसके प्रकाशमें आध्यात्मिक मनुष्य शास्त्राध्ययन करेगा, कामी मनुष्य विलास करेगा। स्वयं प्रकाशित होकर सबको जीवन देता है। उस प्रकाशमें ईश्वरोपासना भी कर सकते हैं—विषयसेवन भी कर सकते हैं,

चोरी व्यभिचार भी कर सकते हैं। सबके लिये सूर्य कारण है। परन्तु उसको तो पता ही नहीं कि उसकी साक्षीसे क्या क्या चीजें चल रही हैं। वैसे ही ईश्वरकी साक्षीरूपसे हरेक कर्मफलमें कारणता है ऐसा गीता मानती है। परन्तु उसका लेप, उसका पक्षपातित्व उसमें नहीं है।

अब तीसरा प्रश्न 'शास्त्र'के बारेमें है।

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इत्यादि वचनोंसे भगवानका शास्त्र शब्दपर बहुत जोर दिया पडता है। पूर्वापर संदर्भसे यहां 'शास्त्र' यह शब्द मनुस्मृति 'देवलस्मृति' इत्यादि ग्रंथवाचक यहां प्रतीत नहीं होते हैं। शास्त्र इस शब्दसे कुछ विचारप्रणाली ऐसा अर्थ मालुम पडता है। अभी तक दैव और आसुर विचारप्रणालीका वर्णन हो चूका उसका फलदाता कोई चैतन्य वस्तु है यह भी वर्णन हो चूका। दैवासुर प्रवाह कायम चलते हैं और उसमें कभी मनुष्य इस बाजू या उस बाजू झुक जाता है, इसका कारण मोह है इत्यादि विवरण कर दिया है। यह सब ख्यालमें रखकर मनुष्यको यहां आचरण करना है। आसुर मार्गपर कौन ले जाता है? दैवी मार्गपर कायम रहनेका क्या मार्ग है? ईश्वर क्या वस्तु है? और उस प्रसादसे कायमके लिये दैवी संपत स्वीकार

कैसा हो सकता इत्यादि विचारप्रणालीको यहां शास्त्र कहा है। इस विचार बिना मनुष्य साधनपथसे च्यूत होगा। अतः यह विचार ही उसके मार्गपरका पथदीप है।

वेद इत्यादि आपातत: उस अर्थमें आवेंगे परन्तु गीता को इस समय 'वेद' यह शास्त्रसे अभिप्रेत नहीं। यह वेद भले उस अर्थमें आपातत: बैठ जावे, क्योंकि वह उन्नतिका मार्ग बताता ही है। परन्तु मुख्य अर्थसे शास्त्र यानी देवासुर संपत्के विचारसरणी और उस विचारसरणीसे ही अखिल जीवन मनुष्यको पसार करना चाहिये यह गीताका कटाक्ष-पूर्ण आग्रह है।

लौकिक दृष्टान्तसे इस बातका खुलासा हो सकता है। वैद्यकका शास्त्र और तंत्र ऐसे दो भाग रहते हैं। औषधी-प्रदान यह तंत्र भाग है और वातपित्तकफका ख्याल करते हुवे पूर्व विचार यह शास्त्र है। यह शास्त्र जो जानता नहीं ऐसा वैद्य औषधी तंत्र पद्धतिमें यशस्वी नहीं होगा। वैसाहि मनुष्यका जीवन उपरोक्त दैवासुर संपद् पर अधिष्ठित है। उसका विचार अति आवश्यक है। उसका विचार छोड़कर, उसकी मूल भूमिको छोड़कर जो जीवन चलावेगा उसका पतन जरूर होगा यह कहनेका भावार्थ। इस लिये गीताका कहना है 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' उपरोक्त विचारप्रणाली हि प्रमाणं ते। इस विचारप्रणालीको कभी न भूलना चाहिये। इसका और सिलसिलेवार वर्णन, आहारविहारादि रूपसे आगे

अध्यायमें अधिक होगा। यहांपर जीवनके व्यवहार शास्त्रीय और अशास्त्रीय कैसे बनते हैं उसका ठीक वर्णन मिलेगा। आखिर संक्षेपसें शास्त्रका अर्थ 'ॐ तत्सत्' इसमें एकत्रित कर दिया है। बस यही मंत्र गीताका 'शास्त्र' है।

*

अध्याय १७

— ॐ तत्सत् —

इस अध्यायके भी गताध्याय जैसे तीन विभाग हो सकते हैं। (१) अशास्त्र विहित आचरण करनेवालोंकी निष्ठा (२) आहार विहार उपर शास्त्रीय दृष्टि (३) ॐ तत्सत्का खुलासा।

एक दृष्टिसे यह अध्याय सोलहवा अध्यायकी पूर्ति ही है। उस अध्यायमे जो वर्णन आया है वही आगे बढाकर विशेष रूपसे सिलसिलेवार बताया है। देवासुर संपत्का वर्णन हो चूका है और उनमे दैवी संपत् ही सदैव स्वीकार्य है ऐसा सिद्धान्त हो गया। उस दैवी संपत्के अनुलक्षमें जो कुछ व्यवहार हो वह सशास्त्र है, शास्त्रविहित है; अतः उसे शास्त्रीय मार्ग कहते है। उसके विरुद्धके व्यवहारको जिसमें उपरोक्त शास्त्रीय दृष्टि रहती नहीं उसे अशास्त्रीय व्यवहार कहते हैं।

एक ही क्रिया—हिंसा है, यज्ञ है, जप है, तप है, दान है—सब तीन प्रकारसे होती है। एक स्वार्थप्रेरीत, दुसरी उन्मत बुद्धिसे और तीसरी भगवद्सेवा या निष्काम बुद्धिसे। इसमें प्रथम दो प्रकारसे किया हुआ कर्म—उपरसे भले सब सात्विक लगे—पर गीताका कहना है कि वह नरकप्रद है। तीसरे प्रकारका कर्म भले उपरसे कोई समय बुरा मालूम हो जैसा यज्ञीय हिंसा, परन्तु वह सात्विक है अतः श्रेय देनेवाला है यह गीताका विशेष कटाक्ष है।

आहारके बारेमें भी वही दृष्टि गीताकी है। साधारण सात्विक, राजसिक, तामसिक आहारका वर्णन कर दिया है पर उसकी सात्विकता केवल वस्तुनिष्ट नहीं बल्कि उसके सेवन करनेवालेके मनोनिष्ट है। दूध, घृत, खीर, गोधूम इत्यादि पदार्थ सात्विक बताये हैं। पर कोई मनुष्य जिह्वा-लौल्यसे जैसा लोगोंमे पाया जाता है, बराबर डटके खाया करे तो यह ही आहार उसके लिये असात्विक है। अधिक मात्रासे बदहजमी होना यह तमं गुण बताता है। और स्वार्थ-प्रेरित होकर जिह्वालौल्यसे खाना यह भी तामस प्रकार बताता है। उसके उलट कटुअम्लादि आहार जो राजसिक कहा गया है। मानो कोई एक महात्मा ब्रह्मोपासक क्षुधापीडित है और उन्हें उस आहारका सेवन निरुपाय होकर तरीकेसे कर लिया तो क्या वह आहार उसके लिये सात्विक नहीं? इसी लिये, दुष्काल्मे विश्वामित्रने कुत्ताका मांस भक्षण किया इसमें

कोई पाप नहीं था ऐसा वर्णन महाभारतकारने किया है। उस वक्त. ब्रह्मोपासनाके लिये देहरक्षण करना यही उद्दिष्ट था। जिह्वालौल्य नहीं था। अतः यह मांसभक्षण सात्त्विक ही कहना पडेगा; परन्तु उसके अनन्तर चांडालने विश्वामित्रको पीनेके लिये पानी दिया उसका उन्होंने स्वीकार नहीं किया। विश्वामित्रने उत्तरमें कहा 'मैं पानीके सिवाय निभा सकूंगा'।

इस वर्णनपरसे पता चलेगा कि आहारविहार सब कुछ सात्त्विक है या नहीं यह पहिचाननेकी गीताकी पूंजी और सब संप्रदायोंसे अलग है। और सब संप्रदायोंने कही हुई उत्तम चीजें उनमें एक मनोवृत्ति अधिक करके गीता उनको उत्तम या अधम कहेगी।

यही विचारप्रणालीको गीता शास्त्र कहती है। वेदोंमें यह विचार आपाततः आता है अतः वह शास्त्र है। परन्तु असली 'शास्त्र' यह शब्द इस विचारप्रणालीको है। इस शास्त्र का वर्णन गुणत्रयविभाग करके इस अध्यायमें भगवानने बताया है। अब इस शास्त्रको न जानकर जो कर्म करता है उसका कर्म व्यर्थ होता है, आत्यंतिक श्रेयकी दृष्टिसे फिजूल होता है ऐसा कहना गीताका है।

इस ख्यालसे यज्ञ, तप, दान, आहार इत्यादि वस्तुओंका वर्णन उस शास्त्रीय दृष्टिसे इस अध्यायमें किया है। वह वर्णन श्रेयःसाधकोंके लिये अति आवश्यक व मार्गदर्शक है। अतः

सोलहवा और सत्तरहवा अध्याय परस्पर पूर्ति करनेवाले अध्याय हैं। अनेक विषयोंका वर्णन गताध्यायोंमें करके इन दो अध्यायमें साधकोंने कैसा आहारविहार रखना चाहिये इसका वर्णन कर दिया। और साथसाथ श्रेयःसाधकने हरेक कर्म तरफ-खत के और दूसरेके-किस दृष्टिसे देखना चाहिये उसका वर्णन खूब कर दिया। जब सब अध्यायोंका सार; अखिल गीताका संक्षेपसा सार, जिस एक वाक्यमें भरा है उस ॐ तत्सत् का वर्णन आता है।

ॐ तत्सत् यह गीताका सूत्रवाक्य-बीजवाक्य—सर्वस्व भरके तैयार किया हुआ वाक्य है। गीताका एक वाक्यमें कहना चाहा है ऐसा अगर कोई पूछे तो उसे यह एक वाक्य ही बताया जायेगा। इतना महत्वका यह मंत्र है। इसमें ॐ तत्, सत् ऐसे तीन पद हैं। सत् यह शब्द अखिल साधु-कर्मादिहितकर्म, धर्मस्थितकर्म, शास्त्रस्थित कर्मोंके लिये प्रतीक है। यज्ञ, याग, जप, तप, दान, धर्म, समाजसेवा, देशसेवा इत्यादि जितना धार्मिक या लौकिक सत्कर्म है उनको बताने वाला यह सत् शब्द है। उसके उल्टा असत् शब्द जो संसारमें त्याज्य कर्म है, निषिद्ध कर्म है जिसे मनुष्यने कभी न करना चाहिये ऐसे कर्मका-जैसे-व्यभिचार, दारू, बदमाशी-इत्यादि प्रतीक है। संसारमें दो प्रकारके ही कर्म रहते हैं। एक वैध और दूसरा अवैध, सिद्ध और निषिद्ध, सेव्य और असेव्य। इन दो कर्मके सत् और असत् यह प्रतीक बने, उसमें सत्

यही हमारे लिये उचित है। असत् मात्र ज्ञान करानेके लिये, उसे त्याग करनेके लिये बताया गया है।

तत् इसका अर्थ फलासक्ति रहितता। जो कुछ सत्कर्म हम करेंगे उनकी फलाशा न रखते हुये हम करेंगे। स्वार्थमय संसारमेंसे निकलनेका एकमेव मार्ग, फलाशा रहित-निष्काम कर्म करनेका अभ्यास यही है। दुनियामें सदैव स्वार्थ चल ही रहता है पर धीमे धीमे निस्वार्थकर्म करनेका अभ्यास डालनेसे मनुष्यको शांति लाभ होती है यह सिद्ध बात है। उस कर्मके ढंगका यह तत् प्रतीक है। ईश्वरार्पण बुद्धि निष्काम कर्मकी कुंजी है। अतः जो जो सत्कर्म हम करेंगे वह सब ईश्वरार्पण करते रहेंगे क्योंकि वैसे करनेसे ही परम शांति लाभ है यह अभीतकका अखिल गीताका प्रवचन कहता है। उस सिद्धान्तका तत् यह प्रतीक उपरोक्त मंत्रमें बन गया।

ॐ यह ईश्वर वाचक है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस सूत्रसे ईश्वर वाचक अक्षर ॐ यह बताया गया है। ॐकी और ईश्वरकी तुलना थोडी बहुत हो सकती है। अतः यह शब्द तद्वाचक रूढ हो गया। ईश्वर सृष्टिको धारण करता है तथापि सृष्टिमें नहीं है। सृष्टि उनकी होनेसे चलती है। उनके न होनेसे चलती नहीं। ॐ यह वर्णमालाका बीज है। वर्णमालाका जितना उच्चार है उसका ॐ यह प्रतीक है। 'अ' से लेकर 'म' तक सब उस उच्चारमें आ गये। अ का

उच्चारसे मुंह खुलता है। म का अंतिम उच्चारसे मुंह बंद होता है। उसके अंतर्गत सब अक्षर हो गये। अत: वर्णमाला का यह ॐ अक्षरबीज है। यह ॐ अक्षर वर्णमालामें न होते हुवे भी वर्णमाला होती नहीं पर यह उसमें नहीं ऐसा वर्णन ईश्वरके समान हि दिखाई देता है। अत: ॐ यह अक्षर ईश्वरवाचक बन गया। उस प्रतीकसे ईश्वरका हरेक अणु अणुमे अस्तित्व बोधित किया गया। अखिल गीतामें ईश्वर संबंधी जो वर्णन है वह यहहि बताता है कि सृष्टि सब ईश्वर से भरी है पर वह उससे अतिरिक्त है। वह ईश्वर भक्तोंका ईप्सित पूरा करनेवाला है। भक्तोंका त्राता है इत्यादि वर्णन का स्मरण करानेका ॐ यह ईश्वर प्रतीक है। ब्रह्म यह उसका अपर नाम है।

अत: ॐ तत्सत्का अर्थ ईश्वर, निष्कामता और विहित-कर्म ऐसा हो गया। ॐ सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्वका सदैव ख्याल रखते हुवे, तत् यानी ईश्वरार्पण बुद्धिसे, निष्कामतासे, सत् यानी जो जो विहित कर्म है उसे मैं करता रहूँगा ऐसी यह प्रतिज्ञा है। ॐ तत्सत् यह गीता शास्त्रका सांकेतिक वाक्य है। इसमें सब कुछ उसका सार आ गया है। भिन्न संप्र-दायोंके जैसे ब्रीदवाक्य प्रतिज्ञावाक्य रहते हैं वैसा यह ब्रीद-वाक्य गीताका बन गया है। यहां अब गीताका विषय पूरा हो गया ऐसा लगता है, अब अधिक आकांक्षा बाकी रहती नहीं। अभीतक कहा हुआ विषय ही फिरसे १८वें अध्यायमें

सिंहावलोकन तरीकेसे दिया है उसमें नया विषय नहीं है। सत्तरह अध्यायमें गीता पूरी हो गयी और अठारह अध्यायमें उसका सिंहावलोकन और उपसंहार कर दिया है।

अध्याय १८

— समारोप —

'ॐ तत्सत्' यह आखिरका संदेश, एक दृष्टिसे संक्षेपमें अखिल गीताका सार है। और वह गत अध्यायमें कह दिया और गीताके व्यक्तव्य लगभग समाप्त हुआ। उन सब पीछेके वर्णनमें जो कुछ थोडेसे पारिभाषिक शब्द अचर्चितसे रहे थे उनका गीताकी दृष्टिसे ठीक अर्थ बताना चाहिये। उसके लिये यह अध्याय आरंभ होता है और वे पारिभाषिक शब्द और उनके निश्चित अर्थ बताकर सब विषयोंका उपसंहार करते है। अतः अखिल गीताका उपसंहारात्मक ही यह अध्याय है।

गीताकी शुरूआतमें सांख्यनिष्ठा और कर्मनिष्ठा इन दो विषयोंका विवेचन किया जिसको हि संन्यासमार्ग और योग मार्ग कहा गया था। सन्यासमार्गका प्रधान सूत्र 'संन्यास' इस शब्दसे ध्वनित होता था और योगमार्गका प्रधान सूत्र

'त्याग' इस शब्दसे द्योतित होता था। सन्यास और त्याग इन दो शब्दोंका व्याकरणसे अर्थ एक ही हैं परन्तु उन उन सप्रदायमे उनके रूढ अर्थ कोई विशेष भावमे रखते हैं। बुद्धि कर्म धृति चातुर्वर्ण्य इत्यादि विषय भी जो उस जमाने के प्रचलित शब्द थे उनका भी परामर्श लेना जरूरी था। अन्यथा और सप्रदायमे उपयोगमे आनेवाले शब्दके अर्थसे अगर यहा गीतामे भी व्यवहार हो जाय तो अनर्थ होगा। अत इस अध्यायकी जरूरत थी। और उसकी शुरूआत सन्यास और त्याग इनका स्पष्ट अर्थ क्या है इस प्रश्नसे होता है।

कई सप्रदाय सब कर्मोंका शक्य हो वहातक, त्याग ही करना उचित मानते हैं। कर्मके साथ उनकी दोषैक दृष्टि होनेसे वे लोग कर्मका छोडना ही चाहिये एसे मानते हैं। उलट पक्षमे कई दूसरे लोग कर्मके फलका छोडनेसे कर्म छोडा एसा हि होता है इस मतके हैं। उन दोनोका वर्णन पूर्व अध्यायामे बहुत हो चुका है। इस दृष्टिसे कर्म त्याग करनेवाले 'सन्यासी' हो गये और कर्मफलत्यागवाले कर्मयोगी बन गये। कर्मका छोडना इस अर्थमें सन्यास शब्द रूढ हुआ और कर्मफलका छोडना इस अर्थमे त्याग शब्द रूढ हुआ। यह गीताकी दृष्टि है। उसके लिये

एतान्यपि तु कर्माणि सग त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चित मतमुत्तमम् ॥

यह वचन प्रसिद्ध है।

कर्म छोडना इसमें मनुष्यकी अलग अलग बुद्धि दिखाई देती है। कई लोग, कर्ममें दुःख है, कष्ट है, स्नान संध्यादि किंवा अन्य देव-देशभक्ति इत्यादि झंझट कौन करे इस ख्याल से, कर्म नहीं करते हैं। उसे गीता राजस त्याग कहती है। स्नानसंध्या, देवभक्ति, देशभक्ति यह क्या चीज है इसका भान ही नहीं और उस अज्ञानसे जो कर्म त्याग करते हैं उसे गीता तामस त्याग कहती है। मेरा कर्तव्य है इस ख्यालसे जो कर्मके ओर देखता है और दुःखकारी हो या सुखकारी हो उसकी परवाह न करते हुवे जो कर्म किया करता है— स्नानसंध्यादि तथा देवभक्ति, देशभक्ति इत्यादि यथोचित कर्म— उसे गीता सात्विक त्याग कहती है। और वे लोग कर्मत्याग न करते हुवे भी फलाकांक्षा रहित होनेके कारण त्यागी ही समजना चाहिये। वास्तविक कर्म जो होता है, एक मात्र कर्त्ताकी अपेक्षासे नहीं होता। उसके लिये 'पंचैतानि महा-बाहो कारणानि निबोधमे' 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्' ऐसा सिद्धांत है। अतः यह जो जानता है और उदासीन होकर कर्म करता है वहि श्रेष्ठ मार्ग है यह गीताका सिद्धांत है।

इसके बाद ज्ञानका तामस, राजस और सात्विक प्रकार बताकर 'ज्ञान कर्म च कर्ता च त्रिधेव गुणभेदतः' कर्म और कर्ताके भी सात्विक, राजसिक और तामस भेद बताये हैं। यहां भी संगराहित्य आसक्ति और मोह येहि ज्ञापक कहे गये

है। आगे बुद्धिके भेद तथा धृतिके भेद भी उसी हिसाबसे बताये गये हैं। बुद्धिसे आकलित विषय कायम रखनेके लिये उसके पीछे जो धैर्य चाहिये उसीको यहां धृति कहा है। इस धृतिसे मनुष्य कुछ मार्गका अवलंब अधिक समय तक कर सकता, कष्ट सहन कर सकता और उसी कर्ममें तन्मय रह सकता। यह गुण धृति है। बुद्धि है और धृति नहीं तो वह टिक नहिं सकता। 'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः' ऐसा पतञ्जलिका उस बारेमें सूत्र प्रसिद्ध है। यह काम धृतिका है। अब यह धृति भी तीन प्रकारकी हो सकती है। हिरण्यकशिपु रावण इत्यादिओंने भयंकर तपस्या की, ध्रुव भगीरथ इत्यादिओंने भी उग्र तपस्या की। तपस्याके पीछे धैर्य तो दोनोंमें भी प्रखर था पर पीछेकी मनःकामनासे वह धैर्य राजस और सात्विक बन गया। यही गीताका कहना है। धृति या धैर्य ध्रुव भगीरथ सरीखा चाहिये जिसे सात्विक धृति कहते है। और वही धृति निःश्रेयस मार्गाविलंबी होती है।

प्रसगसे उस जमानेका आर्योका चातुर्वर्ण्य जो कि उन लोगोंका यह एक महान विशेष था, उसके बारेमें थोडासा कहते हैं। तत्पूर्व लौकिक सुखका भी त्रिगुणोंसे विभेद बता कर केवल सात्विक सुख ही साधकोंके लिये उचित है यह बताया गया। यह सुखका भेद आध्यात्मिक मनुष्यके लिये अति लाभदायी है। जो सुख प्रथम मन लेना चाहता नहीं

पर विचारसे लेने लगता है वही सुख सात्विक और प्रगति करनेवाला है।

इसके बाद उपसंहारात्मक वर्णन है। अभीतक कहे हुये विषयोंका सारभूत वे श्लोक हैं। सांख्ययोग, भक्ति, ज्ञान इत्यादि सब शब्द यहां एक हो जाते हैं और एक हि वस्तु द्योतित करते हैं जो गीताका हार्द है। 'ईश्वरः सर्वभूतानि हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। इस सिद्धांत पर विशेष ज़ोर देकर गीता कहती है अखिल सृष्टिमें ईश्वर भरा है वही सर्वसंचालक है, उसके आधीन ही सब सूत्र हैं, यह जानकर, इसका पूरा ख्याल रखकर मनुष्यने यहां वर्ताव करना चाहिये। यहि जाननेवाला पुरुष 'स्थितप्रज्ञ' 'प्रियभक्त' 'ध्यानयोगी' 'गुणातीत' 'ब्रह्मभूत' इत्यादि शब्दोंसे जगह जगह बताया गया है।

इतना उपसंहार करके भगवान अर्जुनके सामने पूरा विषय सिलसिलेवार रखते हैं। विषयकी ऐसी विगतवार वर्णनशैली सुनकर अर्जुनका मोह नष्ट होता है और प्रथमाध्यायमें उसके मनमें आयी हुई शंका विदीर्ण हो जाती है। जिस मोहके कारण उसने अनेक प्रश्न प्रथम उठाये थे वे सब प्रश्न यहांके यहां ही विलीन हो गये। शुरुआतमें उसके जितने प्रश्न थे, जो अनर्थपरंपरासे वह व्याकुल हुआ था, वे सब प्रश्न विना उत्तर पाये वैसेके वैसे हि नष्ट हो गये। अब एक भी शंका रही नहीं। अर्जुन अब निःसंदेह हो गया।

और 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत स्थितोस्मि गतसंदेहो करिष्ये वचनं तव' ऐसा कहकर युद्धार्थ सिद्ध हुआ।

यहां चातुर्वर्ण्यके बाबतमें जरा विचार करना अप्रासंगिक नहीं। चातुर्वर्ण्य यह आर्योंकी एक विशेषता है। यह अति प्राचीन कालसे चला हुआ समाज नियमण है। इसको उखाड़नेके लिये वर्तमान होनेवाले पर आर्यसंस्कृतिके अभिमानीयोंने बहिष्कार तक भी किया है। बुद्ध जैन इसीलिये अलग पड़ गये।

चातुर्वर्ण्य जन्मसे मानना या कर्मसे, यह प्रश्न अभी जरा बाजू पर रख कर, चातुर्वर्ण्यसे समाजघटना बराबर चलती है कि नहीं यह प्रश्न प्रथम लेंगे। और चातुर्वर्ण्यसे समाजमें थोड़ी बहुत शांति स्थापित होनेमें सहायता मिलती होगी तो फिर वह जन्मसे मानना या कर्मसे यह प्रश्न गौण है।

आज समाजका निरीक्षण करें तो जहां वहां खूब द्वेष-मूलक स्पर्धा चली हुई देखनेमें आती है। व्यवहार खूब बढ़ गया इससे ऐसा होना स्वाभाविक है ऐसा जो कोई कहे तो वह ठीक नहीं क्योंकि इतना व्यवहार आपही बढ़ गया ऐसा नहीं। प्राचीन कालमें अशोक, चंद्रगुप्त, हर्ष किंवा उनके भी पहले कौरव-पांडवोंका साम्राज्य विशाल था। व्यवहार तो सर्व ज्ञात जगतमें चलता था परन्तु उस वख्त इतनी अशांति नहीं थी यह बात उस वख्तके वर्णन पढ़नेसे मालुम होता है।

आज व्यवहारमें पड़ा हुआ मनुष्य आखीरके क्षण तक-

आखिरका श्वास इस शरीरमेंसे निकल जाने तक व्यवहार करता ही रहता है। वह व्यवहार फिर वैयक्तिक हो या सामाजिक अथवा देश संबंधी हो। नवीन उद्योन्मुख उमेद्‌वारोंको बहुत ही थोड़ा अवकाश मिलता है। परिणाम यह आता है कि नया उमेद्वार, जुने अधिष्ठित लोगोंके मृत्युकी ही इन्तजारीमें रहता है। इन्तजारीकी भी मर्यादा होती है। उसका अतिक्रम हुआ तो खून करके भी उस जगहपर स्वयं अधिष्ठित होनेकी चेष्टा करता है। मोंगल सम्राटोंका इतिहास इस बातमें उत्तम साक्ष देगा। हरेक युवराजने अपने पिताके खिलाफ बंड किया था। आज भी संस्थाओंमें, वैयक्तिक व्यवहारोंमें, गृहव्यवस्थामें ऐसी ही तंग स्थिति आ गयी है। स्थानापन्न मनुष्य जलदी जगह खाली करता ही नहीं। परिषदोंको देखो, संस्थाओंको देखो, कैक सालोंसे वही अध्यक्ष चला रहा है। नव-उन्मुख उमेदवारोंको अवसर मिलता नहीं। प्रौढ-वृद्ध मनुष्यने नये मनुष्यको जगह देनी चाहिये। उनमेंके सद्‌गुणोंका विकास होनेके लिये अवसर देना चाहिये। वृद्ध मनुष्यने विशिष्ट कालतक काम करने बाद निवृत्त होना चाहिये। नव योग्य मनुष्यको कार्य सौंप कर स्वयं आस्ते आस्ते निवृत्त होकर ईशचिंतन-आत्मचिंतन में रत होना चाहिये। इसीको शास्त्रीय भाषामें आश्रम-व्यवस्था कहते है।; विशिष्ट कालतक खूब व्यवहार करना यह हो गया गृहस्थाश्रम। उसके बाद नव योग्य मनुष्यको

सूचन करते करते निवृत्तिपर आना यह वानप्रस्थ और सब व्यवहार नव तरुणोंको सोप कर पारमार्थिक कर्तव्य करते रहना यह हो गया सन्यासाश्रम। इन सबके लिये विशेष अभ्यासकी जरुरी होती है। वह पूर्व अभ्यासका काल हो गया ब्रह्मचर्याश्रम। वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जीवनमें इस जीवन व्यवस्थाकी खास जरुरी है। अज्ञानसे हम उसे जानते नहीं, जिसका फल हमें दुःख रुपसे मिलता रहा। यह दुःख मिटानेके लिये प्राचीन आर्योंने वर्णाश्रम व्यवस्थाका शोध किया।

कोई कुलमें कोई विद्याकी वृद्धि होगी। वह दूसरे कुलमें जरा दरीसे दिखायेगी। इसलिये वही विद्या वही कुलमें विशेष विकास पाती है। और वहाही उस विकास साधने देना यह उचित भी है। परंतु परस्पर मत्सर उत्पन्न न हो इसलिये ऐसा दृढ रखा गया कि परविद्या उपर आजीविका कोई न करे। एक समानकी कला या विद्या दूसरें समान वाला सीख सके परंतु उसपर वह जीवनयात्रा न कर सके। कर सो वह पाप समजाया जाता था। इसका सुपरिणाम यह आया कि विद्याकि वृद्धि होती रही परंतु मत्सरका अवकाश न मिला।

विद्या और कलाके बारेमें यह हुआ। वैसाही जीवनके अनेक विभागोंकी व्यवस्था करनी चाहिये। इसलिये प्राचीन आर्योंने एक महान पद्धति अमलमें लाकर उसका अनेक

पर्यंतक यशस्वी प्रयोग कर बताया। यह है वर्णाश्रम पद्धति। गीता इस वर्णाश्रमका स्वीकार करती है।

अब प्रश्न रहा कि यह व्यवस्था जन्मतः मानना या कर्मतः। आश्रमके बारेमें जन्मतः या कर्मतः किंवा गुणतः यह सवाल उठताही नहीं। फक्त वर्णके बारेमेंही प्रश्न रहा।

इसके बारेमें गीताका उत्तर उभय पक्षमें आता है। अपवादात्मक दृष्टांत मिलता है कि कर्मसे वर्णांतर हो गया। परन्तु ऐसे दृष्टांत अति विरल। सर्वसाधारण जन्मसे ही वर्ण माननेमें आता था यह बात सत्य है। विश्वामित्र जैसा अपवाद हैं। इस लिये कर्मसे वर्णव्यवस्था माननेमें गीता विरोध करती नहीं इतना ही।

मुख्य प्रश्न यह है कि आज अपने समाजमें शांति स्थापित करनेके लिये, वैयक्तिक वैमनस्य दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये। यहां गीता निर्णय देती है कि आर्यों की वर्णाश्रम व्यवस्था ही इन मत्सरोंको हरायेगी। 'चातुर्वर्ण्य मयासृष्टम्' 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः स सिद्धिं लभते नरः' श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' 'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' 'क्षात्रकर्म स्वभावजम्' इत्यादि वचनोंसे गीताका पक्षपात जन्मतः वर्णव्यवस्था उपर ही लगता है। यहां धर्म यानी अपनाअपना जन्मप्राप्त कर्म। यहांसे जन्मतः और थोडासा कर्मतः वर्णव्यवस्था मानकर उसका अवलंब करना यही गीताका निर्णय

दिखता है। केवल कर्मसे माननेमें अनेक प्रश्न अड़चण डालते हैं। उसका वर्ण कौन निश्चित करेगा? जो निश्चित करेगा उसको सबने मानना तो चाहियेना। न मानोगे तो अव्यवस्था होगी। ऐसी तो सत्ता कोईमें नहीं कि वह हाथमें सोटा लेकर सबको ठीक कर देगा। ऐसा सोटा लेकर कोई करना चाहे तो द्वेष मत्सर इत्यादि बढ़ेगा। इस लिये यह सब झंझट छोड़कर जन्मत ही वर्ण मानना यह सबसे सरल मार्ग है और यही स्वीकार्य है ऐसा गीताका कहना लगता है।

उपसंहार

अचतुर्वदनो ब्रह्मा, द्विबाहुरपरो हरिः
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः

जय नामक पुराण काव्य पर अनेक संस्कार होते होते आज 'महाभारत' जिसे कहते हैं वह प्रबंध हमारे पास उपस्थित है। 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वं' इस उक्तिसे उस ग्रंथ की महत्ती बतायी जाती। यानी दुनियामें अब नवीन ज्ञान ऐसा कोई रहा नहीं कि जिसका परामर्श इस महाभारतमें न लिया हो। इस ग्रंथमें अनेक आख्यान, उपाख्यान, काव्य, नीति इत्यादि हैं। व्यवहार, सदाचार बतानेवाली नीति है परन्तु निःश्रेयस प्रति जानेवाले मनुष्यके लिये श्रीकृष्णार्जुन संवाद रूपसे ग्रथित की हुई अध्यात्म नीति कुछ अलौकिक है। हरेक अध्यात्मिक जीवके लिये, चाहे वह कोइ भी पथ का हो, यह संवाद एक प्रकारका पथ-दीप है।

गीताकी अर्वाचीनता या प्राचीनता, ईश कर्तृकता या व्यास कर्तृकता, महाभारतमें उसकी प्रक्षिप्तता या अप्रक्षिप्तता ये सवाल गौण हैं। गीताकी महत्ता उसके बाह्यांगमें नहीं बल्के अंतरंगमें है। इस प्रकारका विवेक और कोइ ग्रथमें

न पानेके कारण ही गीताको प्रस्थानत्रयीमें स्थान मिला है। आजतक हजारों अध्यात्मिक जीवोंको गीतासे स्फूर्ति मिली। आधुनिक कालमें भी अनेक आध्यात्मिक जीवोंको गीता मार्गदर्शक बन रही है। वह कभी पुराणी होती नहीं। नित्य नूतन ऐसा गीताका महिमा है।

गीताके अठारह अध्याय हैं। महाभारतके अठारह पर्व हैं। भारतीय युद्धकी सेना भी अठारह अक्षौहिणी थी। इसमें कुछ विशेष गूढ रहस्य है कि क्या यह प्रश्न विद्वानोंके लिये चर्चा योग्य है। परन्तु यहां उस संख्याका ठीक योग बन गया इतना तो सत्य है।

देशकारणमें, राजकारणमें, समाजकारणमें, कुटुम्ब तथा व्यक्ति व्यक्तिके व्यवहारमें ऐसे कुछ संबंध निर्माण होते हैं जिससे मनुष्य हतबुद्ध होता है और इस वख्त यह करू या वह करू ऐसे सदेहमें ही गोते खाते रहता है। उस समय [कर्माकर्मका विवेक गीता बताती है। धर्माधर्म, पुण्यापुण्य विवेक बताती है। संस्थाओंमेंका मतभेद, व्यक्तिओंमेंका विग्रह इन सब बातोंपर नया प्रकाश गीता डालती है। यह विग्रह यह मतभेदके पीछे मनोविश्लेषण करनेको गीता सीखाती है। और उस विग्रहके पीछे सात्विक मनोवृत्ति हो तो उस विग्रहको मान्यता मिलती है और (राजस या तामस वृत्ति हो तो उसे गीता मान्यता देती नहीं।] केवल विग्रह

या झगडा वस्तुतः पापमय या पुण्यमय नहीं होता। वैसा हो तो उन्मत्त राजशासनके विरुद्ध आवाज उठानेवाले महात्मा तथा अन्यायका विरोध करनेवाले सत्पुरुष ये सब पापी ही बनेंगे! परन्तु वैसा नहिं है। मोगल सत्ताके विरुद्ध ध्वज उठानेवाले शिवाजी, साम्राज्यतृष्णा बढानेके लिये निकला हुआ सिकंदर, स्वामीद्रोह करके राज्य छीननेवाला हैदर और अफ्रीका खंडखोर वधासाकू इन लोगोंने किये हुये झगडे-विग्रहोंमें फरक तो जरूर है। स्त्रीलंपट होकर मातापिताका परित्याग करनेवाला स्त्रैण और भगवत्प्राप्तिके लिये माता-पिताका परित्याग करनेवाले प्रह्लाद या भग्त इनमें जमीन असमानका फरक है। ||अतः विग्रह जिस मनोवृत्तिसे लेकर उठता है उसपर उसकी पुण्यापुण्यता है।||

यही विवेक आहार विहारके बारेमें। अमुक वस्तुका आहार सात्विक सामान्यतः कहा जाता है परन्तु उसका अत्यशन या लौल्य यदि उसके साथ हो तो वहि तामस या राजस आहार होता है। उसके उलट तामस-राजस आहार कोई आपद्धर्ममें हो जाय तो भी वही उस वक्त सात्विक बन जाता है। यज्ञ, याग, तप, दान इत्यादि कर्म भी उसी समान देखना चाहिये। रावणने तपश्चर्या की थी और ध्रुवने भी तपश्चर्या की थी। युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया और मुगल सम्राटोंने भी यज्ञ किया। इन दृष्टांतोंसे उन उन कर्ममें फरक तो जरूर मानना होगा और यही गीताका कटाक्ष है।

'हत्वापि स इमान् लोकान्नहंति न निबध्यते' 'मया हता-स्त्वं.. युध्यस्व' इत्यादि वचनों परसे गीता पर कतिपय लोग हिंसारोप करते हैं। उन लोगोंका ख्याल यह रहता है कि हिंसा यानी पाप। चाहे वह यज्ञीय हो या स्वार्थमूलक हो। उनकी दृष्टि वस्तुनिष्ठ कही जाती है। परन्तु गीताकी दृष्टि उसमें और एक चीज मिलकर बनती है। वह चीज निष्का-मता यह है। इससे यह न समजना चाहिये कि गीता हिंसा सीखाती है या हिंसाका पुरस्कार करती है। प्राणरक्षण या प्राणवियोग यह कुछ साक्षात् सत्कर्म और विकर्म नहीं बनता यह गीताका सिद्धांत। कभी कभी हिंसा भी सत्कर्म बनती है—उदाहरणार्थ, कोई अबलापर अत्याचार समय है। अत्या-चारी पुरुष सीधे रास्तेसे मानता नहीं। हमारे पास शस्त्र है। इस वख्त अगर उस अबलाके परित्राणके लिये उस शस्त्र का उपयोग हमसे अगर हो जाय तो यह कर्म क्या पाप होगा? सापन दुष्ट माता बच्चेको खिलाती है, पिलाती है, उसका प्राणरक्षण करती है वह क्या पुण्यकर्म कहा जायेगा? और दुसरी सगी माता अपने बच्चेको कभी कभी ताडन करती है तब भी वह माता ही कही जाती है परन्तु सापन माता वह माता नहीं कही जाती।

इस दृष्टांतके समान अनेक ऐसे प्रसंग होते हैं कि जहां लौकिक दृष्टिसे पाप दिखता है परन्तु करना आवश्यक होता है, बल्के हठात् उसे अदरकी वृत्ति कराती है। उस वख्त

क्या करना और क्या नहीं यह आगेसे उसे कहना मुश्किल है। यह बात एक दृष्टांतसे और भी विशद होगी। सापत्न माता घरमें नई आयी है, पडोशी वृद्धा उसे बच्चोंके साथ कैसा बर्ताव करना इसकी शिक्षा देती है। वह लिख लेती है। और उस प्रकार बर्ताव रखती है। साथ दूसरी एक स्त्री पडोसमें है जिसको एक पुत्र है, सापत्न माता देखती है कि वह स्त्री उस पुत्रको अनेकबार मारती है, खिजाती है तब भी उसे लोग माता कहते हैं और मुझे, इतनी करती हूं तब भी कोई माता कहता नहीं। पडोशी वृद्धाने उसे कहा इसका अर्थ दो चार सालके बाद समजोगी, जरा ठहर जाियए। समयानुसार उसे कुछ दिन बाद बच्चा पैदा हुआ। अब उसको स्मरण भी नहीं कि, बच्चोंके साथ कैसा बर्ताव माताने रखना चाहिए इत्यादि लिखा हुआ याद-पत्र कहां गया। बिना कहे वह सन्माताका ही आचार करती है। कर्माकर्मके अनेक प्रसंग आते हैं। पर आज उसका विवेक यहां बैठके न होगा। आजकी मनोवृत्ति अलग है और उस कर्माकर्मके समयपरकी मनोवृत्ति अलग रहती है। अभी उसका उत्तर लिख नहीं सकेंगे। इस लिये गीता कहती है कि चित्त ईश्वरार्पण करो। चित्त विशुद्ध रखो, ईश्वरभाव रखो। ऐसा सात्विक चित्त रहेगा तब उसमेंसे जो कर्म निकलेगा वह सत्कर्म ही होगा। लौकिक दृष्टिसे उसे चाहे सो कहनेमें आये। उसकी परवाह वह योगी न करेगा उसके लिये उसे

चाहे अनेक आपत्ति सहन करनी पडे, उसकी परवाह नहीं। और, राजस और तामस वृत्तिसे उस धर्ममें प्रवृत्त हुआ होगा तो, वह मनुष्य आपत्तिसे डरेगा, पस्तावेगा और उसमें छटक जानेका रास्ता खोजेगा। ईश्वरबुद्धि पूर्वक किया हुआ कर्म अत. बन्धरहित होता है। और ऐसा योगी कदाच हिंसा करे तो भी उसको उसका लेप नहीं होता। इस भावसे मरना और मारना, जगना और जगाना यह सब ईश्वरमय ही उसके होते हैं। अत इसी जब ब्रह्मज्ञान होता है तब वह कहता है, एक वृत्र नहीं हजारों वृत्रोंको मारकर, हजारों ब्रह्महत्या करके भी 'न मे लोमोपि मीयते'।

उपनिषद् सिद्धांतकी यह एक सदसा है। इस सिद्धांतके अनुसार ब्रह्मका स्वरूप असत्य तो नहीं पण सत्य भी नहीं। हिंसाको जो हम ब्रह्मका स्वरूप न मानेंगे तो अहिंसा भी ब्रह्मका स्वरूप हो नहीं सकता। सत्य असत्य, हिंसा अहिंसा इत्यादि द्वंद्वोंसे पर वह ब्रह्मतत्त्व है और दूसरी दृष्टिसे हिंसा और अहिंसा, सत्य और असत्य, ये तत्त्व भी ब्रह्मका विलास ही हैं। सत्यको ही हम ब्रह्मका स्वरूप मानेंगे तो असत्य किसका स्वरूप होगा? सैतानकी कल्पना वैदिक नहीं। पर-ब्रह्म सिवाय हम और दूसरी सत्ता मानते नहीं। शास्त्र तो कोई अन्य सत्ताका इनकार करता है। उपनिषद् इस लिये ही इन सब द्वंद्वोंको ब्रह्मका ही स्वरूप मानते हैं। सत्य ब्रह्म का दहिना अंग हो तो असत्य उसका बाया अंग है। अहिंसा

को जो उसका दहिना अंग मानो तो हिंसाको उसका बाया अग मानना होगा। और इन द्वद्वात्मक अंगोंसे पर ऐसा शुद्ध स्वरूप अलग ही है जो पुरुषोत्तम, कूटस्थ इत्यादि शब्दोंसे गीतामें बताया है।

हिरण्यगर्भकी कल्पना आ जाने बाद, ये द्वद्व शुरु होते हैं। उसके प्रथम, द्वद्वकी बात भी कहां है? 'यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः' मृत्यु और अमृत उस ब्रह्मकी छाया है। धूपमें खडी की हुई लकडीके एक बाजू छाया और दूसरे बाजू प्रकाश होता है परन्तु लकडी उठा लेनेके बाद छाया भी नहीं और प्रकाश भी नहीं। एकमेव जो प्रथमका प्रकाश था वही बह है। वैसा ही हिरण्यगर्भकी यानी सृष्टिकी उत्पत्तिकी कल्पना लेनेके बाद ही यह द्वंद्व सृष्टि उत्पन्न होती है, उसके पहेले द्वंद्वोंकी कोई बात भी नहीं।

प्रकाश और अंधकारकी कल्पना पृथ्वीपर की है। पृथ्वी न थी उस वख्त सिवा सूर्यलोक उपर प्रकाश और अंधकार की भाषा चलेगी? उपनिषदका आदर्श सिद्धांत ऐसा है। सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा, परिग्रह-अपरिग्रह; इत्यादि द्वंद्व जिसको लौकिकमें सद्गुण, दुर्गुण यह संज्ञा है वे सब उस ब्रह्ममें विलीन होते हैं। ऐसी स्थितिको पहुचा हुआ मनुष्य फिर हिंसासे कायर होता नहीं और अहिंसामें प्रसन्न भी होता नहीं। यही परम आदर्श उपनिषदोंने बताया है जिसका

अनुवाद गीताने किया है। उस ब्रह्मज्ञानको पहुंचा हुआ इंद्र अपने स्वानंद साम्राज्यमें रह कर हजारों वृत्रोंका संहार करके भी पापसे डरता नहीं ऐसी प्रखर शक्ति इस ज्ञानमें है।

सत्यको ही ब्रह्मका स्वरूप मानकर अथवा अहिंसाको ही ब्रह्मका एकमेव स्वरुप मानकर जो मनुष्य उपासना करता है वह साधक दृष्टिसे उच्च तो है ही परन्तु वह उपासनाकी पराकाष्ठा नहीं। वह तो ब्रह्मकी अपूर्ण उपासना होगी। सत्य और असत्य इन दोनोंको भी उल्लंघन करके जो उपासना होगी वही उपासना आदर्श है, जो उपनिषदोंका मान्य है और गीतामे जिसका अनुवाद है।

" अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ कठ.

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नु३ इत्येतावद्धिति
नैतावता विदितं भवतीति। बृ. २

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः।

एत ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम्।
किमहं पापमकरवमिति। उभे ह्येवैष आत्मानं स्पृणुते। तै.उ.

मन निःस्वार्थ होगा, ईश्वरबुद्धिनिष्ठ रहेगा तो उस मनमें, और दूसरी वृत्ति उत्पन्न न होगी, जो होगी वह सत्य ही होगी इसी लिये, 'दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता'

'मामेव शरणं गच्छ' 'मत्कर्मकृन् मत्परमाः' 'चेतसा सर्वे कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः' इत्यादि शिक्षा गीता देती है। उपस्थित कर्माकर्मके संकटमें 'मनुस्मृति' देखनेकी या और कोइ ग्रंथ खोजनेकी जरूरत नहीं। 'अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'। दुनियामें हजारो प्रसंग आते हैं, आवेंगे भी हरेकके बारेमें कहांतक विचार किया जाय। वृक्षोंके पत्तोंपर एक एक जलबिंदु सिंचनेसे काम पूरा न होगा, मूलपर जलसेक करनेसे फिर पत्तोंकी परवाह करनेकी जरूर न पडेगी। चित्तकी परवाह करो, चित्तकी स्थिति 'नित्य सत्वस्थः' करो; फिर कर्माकर्मके संकटमें क्या करना और क्या नहीं, यह कहनेकी, या उसकी यादी देखकर वर्ताव करनेकी जरूर न पडेगी। उस वृत्तिसे निकला हुआ कर्म लौकिक दृष्टिसे चाहे उतना खराब हो, अध्यात्म दृष्टिसे वही कर्म उसे उन्नत करेगा। यही और संप्रदायोंसे गीताका विशेष है। ऐसे अंतःकरणसें निकला हुआ कर्म आपही आप सत्कर्म ही होगा। वस्तुतः दुनियामें जो जो सत्कर्म हम देखते हैं वह क्या स्वयं सत्कर्म होते हैं? दयार्द्र बुद्धि यह जो गोरक्षणमें द्रव्यसहाय्यके पीछेकी भूमिका हो तो वह जीवनके हरेक क्रियामें दिखनी चाहिये। घरमें किया हुआ दीप घरके हरेक दरवाजेसे, हरेक फटोंसे बाहिर दिखाइ देगा, उसका प्रकाश कभी भी गुप्त न रहेगा। गोरक्षणमें सहाय्य करनेवाला शेट अगर किसानपर अत्याचार करते हुवे दिखेगा

तो उसका अर्थ एक ही है कि गोरक्षणात्मक कर्म सात्त्विक नहीं था। यही विचार आहारके बारेमें। केवल आहारत्याग को गीता संयम न कहेगी। वहां संयम बतायेगा और पोषाकमें शौक होगा तो!। पोषाकमें सादाई और खानेमें लौल्य होगा तो!। एक जगहका संयम, हरेक जगह असर करनेवाला देखनेमें आना चाहिये। अंदरका प्रज्वलित दीप घरके झरोखोंसे बाहर निकलेगा ही। वह प्रकाश गुप्त न रहेगा। सब खाना पीना, दान धर्म, पूजा अर्चा सब कुछ व्यवहार इस ख्यालसे, इस त्रैगुण्य शास्त्रके ओरसे देखनेको गीता सीखाती है।

सद्गुणका उद्गम जीवन पर जरूर असर करेगा ही। दया, प्रेम इत्यादि वस्तु सच्ची सात्त्विक होगी तो वह कभी भी गुप्त न रहेगी। इंद्रिय व्यवहारोंमें उसकी झलक अवश्यमेव आयेगी ही। जब आती नहीं तब उसका अर्थ यही हो सकता है कि वह सत्त्व नहीं था। कीर्तिधन, स्वार्थबुद्धि इत्यादि राजस तामस वृत्ति वहां थी। यही विवेक गीता बताती है और कहती है कि केवल जड कर्मसे ही उसका निर्णय नहीं होता।

सामान्य व्यवहारमें भी ऐसे हि अनेक प्रसंग आते हैं उस वख्त स्वार्थ, मोह इत्यादि कारण हो तो वह व्यवहार हीन है परन्तु उसके पीछे निःस्वार्थता और सम्यक् ज्ञान हो तो वह व्यवहार गीताके दृष्टिसे उन्नत होता है। इसी

प्रकारकी कर्माकर्म ग्रंथी अर्जुनके सामने खडी हुई थी। भीष्म द्रोणादि विरुद्ध पक्षमें उपस्थित थे और उनसे लडना, उनके उपर प्रहार करना यह सामान्यत: पाप तो है ही यही अर्जुन मान बैठा था।

इस भावनाके तरफ शास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय तो उसे तोडनेके लिये सिर्फ दो ही मार्ग हैं ऐसा प्रतीत होगा। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य अंधेरी रातमें कहीं जाना चाहता है। रास्तेमें एक बड़ा भारी वटवृक्ष है। लौकिक मान्यता यह है कि उस वटवृक्ष पर भूत रहता है। इस मनुष्यको अब यह भूतकी कल्पना तो निकालना है। इस समय ठीक अन्वेषण करने बाद दो ही मार्ग मिलते हैं। एक उस मनुष्यको भूत-योनी है ही नहीं, भूतयोनीकी कल्पना अति भ्रामक है ऐसा पूरा विवेक जब उत्पन्न हो जायगा तब वह मनुष्य उस वट वृक्ष परके भूतसे न डरेगा। यहां भूतोंके अभावका ज्ञान ठीक ठीक और पूरा हो जाना चाहिये। अथवा दुसरा मार्ग यह है। भूतकी कल्पना जितनी उसके मनमें दृढ हो गयी है वैसी हि दुसरी एक जबरदस्त कल्पना अगर उसके मनमें घर करेगी तो भी यही काम बन जायेगा। रामनामका जप करते हुवे जाते जाते हाथमें यज्ञोपवीतकी ब्रह्मग्रंथी पकडनेसे भूत पासमें आता नहीं ऐसी भावना अगर जो दृढ हो जाय तो भी पूर्वोक्त भूतकी भीति नष्ट होगी।

इन दो पद्धतीसे हि मनुष्यके अन्दरकी मिथ्या भावना

हठ सकती है। इसीको ही शास्त्रीय नाम ज्ञान और कर्म, संन्यास और योग दो सकेंगे। सृष्टिक्रम कुछ विशेष शक्तिके आधीन है यह मुख्य सिद्धांत है। उसका भान जब न रहेगा तब मनुष्य मैं करता, ऐसा अभिमान पकड बैठता है और इस अभिमानमूलक सब व्यामोह फिर होता है। यही अर्जुन के निमित्तसे व्यासजीने बता दिया है।

मनुष्य हठसे, अभिमानसे, मिथ्या ज्ञानसे कुछ मान बैठता है। उसका त हनेके लिये सम्यक् ज्ञान चाहिये। वह जब तक न हो तब तक दूसरी एक जबरदस्त बडी भावना उसके अंदर प्रसृत करनेसे वह हठ और अभिमान छूट जाता है। और यहां अर्जुनके बारेमें वह ईश्वर विषयक भावना निर्माण कर दी गयी है। 'नाह कर्ता हरि कर्ता' यह भान श्रीकृष्णने अर्जुनको जब करा दिया तब उसका पहलेका प्रश्न बिना उत्तर दिये नष्ट हो गया।

घासकी गठडीका, पहिले बंधके पास दूसरा बंध बांधनेसे पहिला बंध स्वयंहि ढीला पड जाता है। यही बात इन भावनाके बारेमें है। भावना अनेक प्रकारकी होती है, स्वाभाविक, सप्रादित, परिवर्धित इत्यादि उसके प्रकार है। बच्चों की मधुर रसप्रीति, मनुष्यके अंदर मृत्युकी भीति यह स्वाभाविक है। आज हमें कुछ वस्तुएं ठीक स्वाद लगता नहीं परन्तु कुछ दिनके अभ्यासमें वही वस्तु स्वादिष्ट बन जाती है। प्रथमत. कई लोगोंको कंदर्प लहसन इनके साथ नफरत

रहती पर वह खानेवालेके संगतसे उसको फिर प्रीति उत्पन्न होती है। बचपनसे ही यह मेरी माता, यह मेरा पिता, यह पूज्य है, इनके साथ विनय रखना चाहिये ऐसी शिक्षा पाकर ही मनुष्य माता, पिता, गुरु इत्यादिकोंके साथ वैसी भावना धारना करता है। भीष्म द्रोण इत्यादिकोंके साथ बचपनसे ही अर्जुनका जो संबंध न होता तो अर्जुन बचपनमें ही वियुक्त होकर दूर रहता होता और भीष्मके साथ लढनेका प्रसंग आता तो क्या अभीके जैसा खेद कर सकता था? बचपनसे ही जिसका पिता दूर देशमें गया हो और यह ज्ञात न हो तो वह पिता सामने खडा होते हुये भी पुत्रके मनमें प्रेम उत्पन्न न होगा। अर्थात् ये सब भावना संपादित तथा परिवर्धितसी हैं। हम मनसे मान लेते हैं और उसको दृढ कर लेते हैं।

अब इस दीर्घकालीन भावनाको हटानेके लिये उससे भी बढकर बडी और व्यापक भावनाकी जरूरी है। और वह भावना ईश्वर संबंधी है। ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपना स्वधर्म करनेमें 'माता न माता भवति न पिता पिता भवति'। एक भावना मिटानेके लिये दूसरी उससे भी बढकर भावना लाने के इस पद्धतिको योगमार्ग कहते हैं।

माता पिता यह वस्तु ही अनुत्पन्न है। एक मूल प्रकृति के ये आविष्कार हैं। सब सृष्टि-ही उसकी अलग अलग अवस्था है। अतः भीष्म द्रोण ये सब प्रकृतिके एक प्रकारके

फचारे हैं। प्रकृतिका धर्म ही है कि उसमें प्रतिक्षण स्थित्यं-तर हुआ करे। जन्म और मृत्यु ये ऐसी स्थित्यंतर ही हैं। ऐसा विवेक यह सांख्यमार्ग है। इन दोनों ही मार्गसे मोह-नाश होकर मनुष्य हर्षशोकातीत हो सकता है। अतः अर्जुन के प्रश्न पर सीधा उत्तर न देते हुवे दूसरे ही प्रकारसे उन प्रश्नको भगवानने छेडा है। इसका कारण भी यही है। अर्जुन के प्रश्नके पीछे बडा भारी व्यामोह था। और व्यामोह निकाल-नेके लिये शास्त्रीय प्रकार दो ही हो सकते हैं। एकको सांख्य कहते हैं। और दूसरेको योग कहते हैं। सांख्यमार्गका विवे-चन अन्यत्र अनेक ग्रथोंमें मिल सकता है। इसी लिये सांख्य का वर्णन गीतामें अधिक विस्तृत करनेकी आवश्यक्ता रही नहीं। योगमार्गका ही वर्णन खूब विस्तृत करनेमें आया है। यहां सांख्य और योग ये शब्द निःश्रेयस प्रति जानेके मार्ग इस अर्थमें है।

यह देखा गया कि योगमार्ग उच्च भावनाका रास्ता है। उस मार्गमें ईश्वर विषयक विचार प्रधानतया आना जरूरी हो वस्तु है। साथ साथ जगत्, जीव, आत्मा, प्रकृति इत्यादि चर्चा भी आपातत आ गयी। अद्वैत तत्त्वज्ञानसे ईश्वर भी एक बडी भावना ही है। और उस भावनासे पर का ब्रह्मका भूमा स्वरूप योगयुक्त मुनि ही पा सकता है ऐसा गीतामें कहा है। इस भावनाके परिपोषणार्थ अनेक दूसरी भावना उसमेंसे निकलती हैं। उनका ही ध्यानयोग, भक्तियोग, ज्ञान-

योग इत्यादि संज्ञा प्राप्त होती है। वास्तविक वे सब एक ही भावनाके भिन्न भिन्न आविष्कार मात्र हैं। यह सिद्धांत गीता के लगभग सर्व अध्यायोंमे प्रतिपादित है। इस ख्यालसे दूसरे अध्यायमे प्रतिपादित उत्तर, जो कि शास्त्रीय पद्धतीसे दो ही प्रकारसे हो सकता है। वही आगेके अध्यायोंमे विस्तृत कर दिया है। विशेषत: योगमार्गकी भावना ही अखिल गीतामें सर्व दूर भरी है। इस योगमार्गकी मूल भूमिका 'सर्वभूत स्थित यो मां भजत्येकत्वमास्थित:' यही है। सर्व भूतमात्रोंमें ईश्वरास्तित्व मानकर उपस्थित कर्मोंको तदर्पण बुद्धिसे करते रहना यह योगमार्ग है। उसमें चित्तकी स्थिरता पानेके लिये कुछ अभ्यासकी जरूरी है। उसके लिये ध्यानयोगका वर्णन करना पडा। यह ध्यानयोग उपर्युक्त 'सर्वभूतस्थित यो मां' इस भावनासे युक्त चाहिये। आगे जाकर वही भावना भक्ति-योगका रूप धारण करती है। इस भक्तियोगका भी वर्णन ठीक पढने पर ऐसा मालूम होता है कि द्वितीय अध्यायमें जो कर्मयोगका थ ड़ासा वर्णन किया है और आगे तीन चार अध्यायमें जिसको दोहराया है वही भावना यहां है। यहांकी भक्ति यानी एक प्रकारका ज्ञान ही है। अतः कर्मयोगका ही यह दूसरा ढगसे वर्णन है। उसके बाद तेरह, चौदह अध्यायमे जो त्रिगुणोंका वर्णन है और उन त्रिगुणोंसे अतीत होने का गीता जो कहती है, यह लक्षण द्वितीय अध्यायके स्थितप्रज्ञसे अलग क्या है? 'गुणातीत: स उच्यते' 'भक्तिमान् स

मे प्रियः' 'स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते' इत्यादि वर्णन सब एकही अवस्थाको बताते हैं जो कि कर्मयोगसे प्राप्त होती है। इसके आगे भी अठारहवे अध्यायमे 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति' यह वर्णन भी उसी कर्मयोगीकी अवस्थाको बताता है। सारांश, अर्जुनके प्रश्नपर दो ही शास्त्रीय उत्तर हो सकते हैं—एक आत्मानात्मविवेक और दूसरा ईश्वरार्पण भावना। भूतकी कल्पना नष्ट करनेके लिये भूतयोनी ही असिद्ध है यह विवेक और तत्तुल्य या बलवत्तर ऐसी 'राम' नामकी भावना निर्माण करना ये दो वस्तुकी जरुरी रहती है। वैसे ही यहां अर्जुनके प्रश्न पर सांख्यदृष्टिसे भीष्म, द्रोण इत्यादि वस्तु ही है नहीं वे मात्र प्रकृतिके अवस्थांतर हैं अतः उनके मृत्युसे या जीवितसे शोक या हर्ष यह अनुत्पन्न है। इस विवेकसे 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इस दृष्टिसे प्रकृतिका व्यवहार होता रहेगा। उस व्यवहारमें दखल कीसीका नही हो सकता। यह सांख्य दृष्टिसे देखना हुआ।

भीष्म-द्रोण इनसे भी बढकर बडी भावनावाली वस्तु दुनियामे है। जिसको ईश्वर कहते हैं। उसकी इच्छासे यह जगत् चलता है। मनुष्य निमित्तमात्र है। दृश्य घटनाके पीछे सूक्ष्म ऐसी कितनी ही घटना चलती रहती हैं जिसका मनुष्यको पता ही नही। मनुष्य दृश्य घटनापर ही उडा रहता है यह उसका अज्ञान है। उस सूक्ष्म घटनाका ज्ञान जब होता है तब उसको ईश्वरके सामर्थ्यकी खबर पडती है

और उससे यह सतःका आग्रह छोड़ देता है। एकादश अध्यायसे अर्जुनको उसका पूरा अनुभव हो गया। इस भावनाको बढ़ानेके लिये हि गीता कहती है—इस भावनाके बलसे ही मनुष्य कर्मसे अलिप्त रहता है। इस भावनाके बलसे ही सब कुछ करते हुवे भी न कर्ता समान है। यही निष्काम कर्मयोग है।

उस कर्मयोगका मूल सिद्धान्त 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय' 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' एतादृत्मक है। सर्व वस्तुमात्रमें ईश्वरतत्त्व भरा है। उसके लिये हि सर्व कर्म होने चाहिये। जो जो कर्म हम करेंगे वे सर्व सत्कर्म शास्त्रसिद्ध होने चाहिये। यह सिद्धान्त ॐ तत्सत्के ब्रीदवाक्यसे गीताने आगे रक्खा है। ॐ तत्सतमें सब कुछ सार आ गया। ॐ यह सर्वव्यापी ईश्वरका प्रतीक है। तत् यह तदर्थ निष्काम बुद्धिसे किया हुआ कर्मका प्रतीक है। और सत यानी विहितकर्म, साधुकर्म, प्रशस्त कर्म है।

उपरोक्त कारणोंसे गीता यह महाभारतको भी पीछे टालकर अग्रेसर ऐसा पवित्र ग्रंथ और अध्यात्म मार्गका एकमेव शास्त्रीय ग्रंथ बन गयी है। अतः उसका प्रवक्ता भगवान यह पावर जगद्गुरु कहा जाता है। 'जगत्पुरुषाणां गुरुः' वे हैं। प्रगतीशील पुरुषोंके वे गुरु हैं। दुनियामें जो जो मनुष्य प्रगतीशील हैं, जो जो अध्यात्म प्रति कोशीश कर रहा हैं उन सबको गीतारुपसे भगवान मार्गदर्शक हैं। विना आग्रहसे

मात्र उसने गीताके तरफ देखना चाहिये। फिर वह मनुष्य चाहे सो मार्गका अनुयायी हो। उसे कुछ न कुछ मार्गदर्शन इस गीतामेंसे जरूर मिलेगा, आजतक मीला है और भविष्यमें कितने ही लोगोंको मिलता रहेगा। अतः श्रीकृष्ण जगद्गुरु हैं। और उनका शब्दावतार गीता है।

इस दृष्टिसे देखा जाय तो कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, ध्यानयोगी, सन्यासयोगी इन नामोंसे विदित होनेवाले लोगोंमें गीताके अर्थके बारेमें क्यों झगडा चलता है इसका आश्चर्य लगता है। गंगाका प्रवाह और यमुनाका प्रवाह, दोनों प्रयागमें मिल जाते हैं और फिर उनका एकमेव बना हुआ प्रवाह ही सागरमें मिलता है। साधनरूप सन्यास और साधनरूप योग ये दोनों स्थितप्रज्ञ, गुणातीत पराभक्ति सम्यक् ज्ञान एतद्‌रूपात्मक प्रयागतीर्थमें मिल जाते हैं और उसके आगे एकमेव अनिर्देश्य मार्ग है, जो ब्रह्म प्रापक होता है। उस अनिर्देश्य-अव्यवहित-ब्रह्म प्रापक मार्गको चाहे सो कह सक्ते हैं। भिन्न भिन्न मार्गानुरूप उसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, संन्यासयोग चाहे सो कह सकते हैं। प्रयागके आगेकी गंगा न गंगा है न युमुना है। और दूसरी दृष्टिसे वह गंगा भी है और यमुना भी है। गीताका रोख उस प्रयाग तीर्थपर है। सब अध्यायोंका रोख उस त्रिगुणातीतता-स्थितप्रज्ञता पर है। उसका ही षष्ठ अध्यायमें ध्यानयोगमें आविष्कार हो गया। और द्वादशमें भक्तियोगमें

आविष्कार हो गया। परन्तु वे सब एक अवस्था बताते हैं कि जो ईश्वरका यथार्थ ज्ञानरूप है। और उस अवस्थाके प्राप्त होने बाद त्वरित ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। वही जीवन-मुक्त पुरुष है। उसे शुक्ल-कृष्ण गतीकी परवाह करनेकी जरूर नहीं। वह उसी वख्त ब्रह्ममय हो चुका है। उसे न कहीं जाना न आना। उसका देह चाहे दिवसमें पडे चाहे रातमें। घरमें पडे या जंगलमें। वह सर्वदा ब्रह्मभूत अवस्थामें रहता है।

एवं प्रथमाध्यायमें अर्जुनविषादरूपसे, गीताका विषय ठीक आकलन हो इस लिये भूमिका कर दी। उसपर द्वितीयाध्यायमें शास्त्रीय समाधान कर दिया। उस द्वितीयाध्यायके एकेक सूत्रका ही आविष्कार करते गये और अठारह अध्याय बन गये। अतः पीछेके सब अध्यायोंका बीज द्वितीयाध्यायमें मिल जाता है। अतः कई विद्वानोंका ऐसा मत है कि गीता यदि युद्धभूमि पर कही गयी हो तो वह द्वितीयाध्याय मात्र गद्य रुपसे कहा गया होगा। और एक दृष्टिसे वह ठीक भी है क्योंकि हरेक अध्यायका सूत्र यहां मिलता है। 'मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्ण सुखदुःखदा.' इसके साथ पंचमाध्यायमेंका 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते' यह श्लोक पढिये। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इस सूत्रका ही विशेष आविष्कार तीसरा और चौथा अध्याय प्रतीत होता है। 'नेहाभिक्रम नाशोस्ति' और 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाश स्तेपु विद्यते' इस षष्ठाध्यायांतर्गत श्लोकमें क्या फरक है? 'नासतो

विद्यते भावो' 'अविनाशि तु तद्विद्धि' यही सिद्धांत सात, आठ, नव इन अ'यायोंमें विशद किया है। दशम और एका-दश अ'यायोंमें उसका फल जो साक्षात्कार, वह आ गया। 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तम'यानि भारत' 'त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' यही विषय तेरहवे और चौदहवे अ'यायोंमे विस्तार पाता है। चौदह अ'यायमेंका गुणातीत लक्षण और द्वितीया'यायमेंका स्थितप्रज्ञ लक्षण इनमें तो कुछ फरक लगता ही नहीं। 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन्' किंवा 'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमान् चरति निस्पृह' यह लक्षण द्वादश अ'यायके भक्तिवर्णनसे बिलकुल मिलते जुलते हैं बल्के वही द्वितीया'यायमेंका सूत्र वहां द्वादश अ'यायमें सिल-सिलेवार आ गया है। 'उभयोरपि दृष्टोतस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः' यहि सूत्र 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' एतदा-त्मक योगसे पंद्रहवे अ'यायमें आता है। ''यायतो विषयान्' 'भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम्' 'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते' इत्यादि वचनोंका, दैवासुर संपतसे सोलहवे और सत्तरवे अ'यायमे खुलासा कर दिया है। अठारवे अ'यायमें सब विषयोंका उपसंहार आता है। अतः सब अ'यायोंके सूत्र इस द्वितीया'यायमे पा जानेके कारण इस अ'यायको ही भगवद्गुक्त गीता मानना ऐसा कई विद्वानों का उपरोक्त अभिप्राय होता है। जो भी हो परन्तु इतनी तो सिद्ध वस्तु है कि द्वितीया'यायमें विषय खूब ठोंसकर भरा

हुआ दिखता है। और ऐसे ठोंसकर भरे हुओ विषय पर अधिक विवेचनकी जरुरी है ही। उस ख्यालसे एक एक अध्यायकी निर्मिती क्रम-प्राप्त ही थी। और वही निर्मिती यानी अठारह अध्याय।

द्वितीयाध्यायमें सांख्य और योगमार्गोंकी प्रणाली बतायी है और पीछेके अध्यायमें प्रायः योगमार्गकी प्रणाली विशद की है। यह करते समय एक उच्च भावना ही अलग अलग रूपमें कैसी परिणत होती है यह भी देख लिया। एक भावना के वर्णनमेंसे ही निष्काम कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग इत्यादि विषय निकल आये। उसका यहांके यहांहि बयान करके समाधान कर दिया और बता दिया कि गीता का लक्ष्य एकमेव है 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्व मास्थितः। सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते।' हरेक वस्तुमें परमात्माका अस्तित्व देखना, 'नाहं कर्ता हरिः कर्ता' यह भावना रखते हुओ सर्व कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे करना और ऐसा व्यवहार करते करते ध्यानयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोगके अवस्थामें चढते चढते स्थितप्रज्ञता प्राप्त करना यह गीताके उपदेशका उपसंहार अठारहवे अ यायमें कर दिया है कि 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति'। यह पुरा जानना है कि जो जो सृष्टिकी घटना विघटना चलती है उसके पीछे ईश्वरी सूत्र रहता है। मनुष्य निमित्त मात्र है। उस ईश्वरी सत्ताके आधीन चींटीसे लेकर महादेव तक सर्व जीव मात्र हैं।

यह ज्ञान जब होता है तब मनुष्यका अहंकार नष्ट होता है। मनुष्य कुछ न कुछ भावना जो मान बैठता है उसे वह छोड़ देता है। वह निराग्रही होकर उदासीन सा दुनियामें वर्तता रहता है। सुखसे आसक्ति और दुःखसे द्वेष भी उसे रहता नहीं। मान और अपमान उसे चलित करते नहीं। ऐसे वृत्तिवालेके मनमें प्रथमा यायमें अर्जुनने उत्पन्न किये हुये प्रश्न कहां टिक सकेंगे? अतः अर्जुनके प्रश्नका रीतसर जबाब अखिल गीतामें न होते हुये भी अर्जुनके संशय दूर हो गये। प्रश्न वहांके वहां ही विदीर्ण हो गये। और वह कहने लगा 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत स्थितोऽस्मि गत संदेहः करिष्ये वचनं तव' ॥

* * *

अर्जुनके जगह दुसरा कोई भी मनुष्य अगर इस ज्ञान को हस्तगत कर लेगा तो वह भी ऐसाहि निःसंदेह होगा ऐसा अभिवचन भगवान देते हैं। यह शक्ति उस ज्ञानमें है और वह ज्ञान सार रूपमें भगवानके वचनोंसे कहकर चर्चा अब समाप्त करता हूं।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥'

– ॐ तत्सत् –

— गीताका साररूप साधनक्रम —

★ ॐ तत्सत ★

अखिल सृष्टि कुच्छ विशेष कर्माशयसे चलती है जिसको अनादि अविद्या कहते हैं। उस अविद्यामें हि ब्रह्माविष्णुमहेश से लेकर चींटी तकके प्राणी वश होकर वर्तते हैं। मनुष्य, उनमेंकी ही एक वस्तु होनेके कारण कुछ मुठीभर अविद्या लेकर जन्मता है और उसी अविद्याके जोरपर उसका अखिल जीवनक्रम चलता है। अतः जीवनमें होनेवाली अनेक प्रवृत्ति, उसी अविद्याके मसालेपर निर्भरित हैं। उसमें जीवको कुछ भी स्वतंत्रता नहीं है। उस मसालेमेंसे उत्पन्न हुअे स्थूलकर्म, जीव टाल नहिं सकता। उसमे उसका पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ जो है, वह फक्त उस कर्मका सुखदु:खादि संस्कार चित्तमें न बैठे इस लिये ही हो सकता है।

कर्मके दो भाग—एक स्थूल भोग-व्यापार। और दूसरा हर्षशोकादि, चित्तपर उठनेवाले संस्कार। स्थूल कर्मभोगमें जीव पूर्वकर्मे परतत्र है। परन्तु हर्षशोकादि संस्कार टालनेमें स्वतंत्र है। यह स्वतंत्रता लानेके दो मार्ग। एक ज्ञानयोग और दूसरा निष्काम कर्मयोग। गीताका निष्काम कर्मयोग उपर विशेष जोर है।

इस कर्मयोगमें, उस अनादि अविद्याके भी पर परमेश्वर नामक तत्व माना है। उस परमेश्वरको सर्व कर्म समर्पण

करके विहित कर्म यथाशक्ति, विना रंज, करते रहेना यही दुःखसे दूर होनेका मार्ग है। मुक्त कर्मभोग वे कभी टाल नहि सकता परंतु उसमे उत्पन्न होनेवाले हर्षशोकादि दोषोंको मात्र, परमेश्वर भक्तिसें मनुष्य टाल सकता है।

इस निष्काम कर्मयोगसे धीरे धीरे चित्त, शुद्ध होते जायेगा, बुद्धि स्थिर होते जायेगी और उसका पर्यवसान, रजतमप्रधान मूढ संसारिक प्रवृत्ति सर्वत कम होकर 'विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय मानसः। ध्यानयोग परो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः' इसमें होगा। ऐसा ध्यानयोग स्थिर होनेसे, सर्वाधिष्ठित सर्वेश्वर भगवानका, कि जिसके लिये यह साधक सर्व कर्मार्पण करके उसकी सेवा करता था, उसका अपने हृदयाकाशमें साक्षात्कार होगा। इसमे साधक पूर्ण समाहित होकर उसी भगवद्रूपको हरेक जड अजड वस्तु मात्रमें देखा करेगा और उस अखिल सृष्टि-कारण-महा अविद्यामें अपने शरीरको पूर्णतः छोडकर और उस महा अविद्याके भी संचालक परमेश्वरमें मनको नितांत लगाकर, हर्षशोकसे रहित होकर, पूर्ण सत्वगुणमें स्थित होकर, अपना उर्वरित आयुष्य व्यतीत करेगा। यह ब्रह्ममेंही रहता है और शरीरका आखीरका श्वास निकल जानेके बाद भी ब्रह्ममेंही लीन होगा। उसे कोई शुभाशुभ मार्गकी जरूर नहीं। 'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन' ऐसे साधकका जीवन केवलसत्वप्रधान रहेगा, रज तमका गंध भी उसके

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

बुध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः
ध्यानयोग परो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥